सितम्बर 2014 ❐ मूल्य : 20 रुपए

सामयिक वार्ता

पश्चिम एशिया पर एकाग्र

भविष्य का समाजवाद

गांधी, आम्बेडकर

न्यायिक स्वतंत्रता और मोदी सरकार

बीमा में प्रत्यक्ष पूँजी निवेश

विकल्प की तलाश और किशन पटनायक

डर के घेरे

एक दिवालिये की रिपोर्ट

समीह अल-कासिम

अगर मुझे अपनी रोटी छोड़नी पड़े
अगर मुझे अपनी कमीज और अपना बिछौना
बेचना पड़े
अगर मुझे पत्थर तोड़ने का काम करना पड़े
या कुली का
या मेहतर का
अगर मुझे तुम्हारा गोदाम साफ करना पड़े
या गोबर से खाना ढूंढ़ना पड़े
या भूखे रहना पड़े
और खामोश
इनसानियत के दुश्मन
मैं समझौता नहीं करूंगा
आखिर तक मैं लड़ूंगा

जाओ मेरी जमीन का
आखिरी टुकड़ा भी चुरा लो
जेल की कोठरी में
मेरी जवानी झोंक दो
मेरी विरासत लूट लो
मेरी किताबें जला दो
मेरी थाली में अपने कुत्तों को खिलाओ
जाओ मेरे गांव की छतों पर
अपने आतंक के जाल फैला दो
इंसानियत के दुश्मन
मैं समझौता नहीं करूंगा
और आखिर तक मैं लड़ूंगा
अगर तुम मेरी आंखों में
सारी मोमबत्तियाँ पिघला दो
अगर तुम मेरे होंठों के
हर बोसे को जमा दो
अगर तुम मेरे माहौल को
गालियों से भर दो
या मेरे दुखों को दबा दो
मेरे साथ जालसाजी करो
मेरे बच्चों के चेहरे से हंसी उड़ा दो
और मेरी आंखों में अपमान की पीड़ा भर दो
इंसानियत के दुश्मन
मैं समझौता नहीं करूंगा
और आखिर तक मैं लड़ूंगा
मैं लड़ूंगा

इंसानियत के दुश्मन
बंदरगाहों पर सिगनल उठा दिये गये हैं
वातावरण में संकेत ही संकेत हैं
मैं उन्हें हर जगह देख रहा हूं
क्षितिज पर नौकाओं के पाल नजर आ रहे हैं
वे आ रहे हैं
विरोध करते हुए
यूलिसिस की नौकाएं लौट रही हैं
खोये हुए लोगों के समुद्र से
सूर्योदय हो रहा है
आदमी आगे बढ़ रहा है
और इसके लिए
मैं कसम खाता हूं
मैं समझौता नहीं करूंगा
और आखिर तक मैं लड़ूंगा
मैं लड़ूंगा
समीह अल-कासिम

(अनुवाद - रामकृष्ण पाण्डेय , साभार- मुक्तिकामी छात्र-युवाओं का आह्वान, मई-जून 2014)

सामयिक वार्ता

सितम्बर 2014 वर्ष 38 अंक 1-2

संस्थापक संपादक
किशन पटनायक

संपादक मंडल
सच्चिदानंद सिन्हा (अध्यक्ष)
अशोक सेकसरिया, कमल बनर्जी, अफलातून,
बाबा मायाराम, संजय भारती
चंचल मुखर्जी (संयोजक)

संपादन सहयोग
लोलार्क द्विवेदी, संजय गौतम, प्रियदर्शन
अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन
अरूण कुमार त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव

परामर्श मंडल
योगेन्द्र यादव, स्मिता, कश्मीर उप्पल

अक्षर संयोजन
गौरीशंकर सिंह, राजकुमार सिंह, रामआसरे

कार्यालय
द्वारा मुखर्जी बुक डिपो
पांडेय हवेली, वाराणसी-221005
फोन : 0800408523 (संपादन)
08765811730 (प्रबंध)
e-mail- varta3@gmail.com

सदस्यता शुल्क
वार्षिक शुल्क : 150/-
संस्थागत वार्षिक शुक्ल : 200/-
पाँच वर्षीय शुल्क : 600/-
आजीवन शुल्क : 2000/-

इस अंक में

6 इक्कीसवीं सदी का समाजवाद — सच्चिदानंद सिन्हा
10 भविष्य का समाजवाद — सुनील
20 सीसैट विवाद के अनदेखे पहलू — सुयश सुलभ
23 न्यायिक स्वतंत्रता पर मोदी सरकार का प्रहार — प्योली स्वातिजा
25 महिमा पैसों की — सुनील कुमार
26 शिक्षक दिवस पर नरेन्द्र मोदी–दो प्रतिक्रियाएँ
27 वही धमक फिर — अफलातून
31 गांधी-आम्बेडकर : शत्रु नहीं सहयोगी — देवानूर महादेव

पश्चिम एशिया पर एकाग्र
36 साहित्य की जमीन पर यह साझा पट्टी — प्रियदर्शन
38 अरब के अरबों मसाइल — अखलाक अहमद उस्मानी
40 हमीं हम हैं तो क्या हम हैं — असद उररहमान किदवई

42 विकल्प तलाशता जीवन
45 बीमा क्षेत्र में विदेशी पूँजी निवेश — अर्जुन प्रसाद सिंह
50 1857 और सुरेन्द्र साँय — प्रीतिश आचार्य
54 वंचितों और उत्पीड़ितों के बीच एक समाजवादी बुद्धिजीवी — अनिल सद्गोपाल
59 एक सच्चा मार्गदर्शक — राजकुमार सिन्हा
60 इरोम शर्मिला : अहिंसक सत्याग्रह की अप्रतिम प्रतीक
62 सुनना मना है — मार्क टली
63 डर के घेरे — अशोक सेकसरिया

आवरण चित्र : नाजी सलीम अल-अली

फिलीस्तीनी कार्टूनिस्ट नाजी सलीम अल-अली। इस्रायल और तानाशाह अरब सरकारों के प्रखर आलोचक। 'हंडाला' उनके द्वारा रचित लोकप्रिय चरित्र है। एक ऐसा किशोर जो जन्मभूमि छोड़ने के लिए बाध्य हुआ है लेकिन दमन और संघर्ष का गवाह है। 1973 के बाद से इसने पाठकों की तरफ पीठ कर ली, हाथ बांध लिए।

नाजी अल-अली ने करीब 40,000 कार्टून बनाए। एक कुवैती अखबार के लंदन स्थित दफ्तर के समक्ष उन पर गोलियां चलाई गई और 29 अगस्त 1987 को वे शहीद हो गये।

संपादकीय

चिंताजनक संकेत

सुनील जी के असामयिक निधन और उन पर केन्द्रित जुलाई अंक के बाद 'सामयिक वार्ता' का यह नियमित अंक आपके हाथों में है। सुनील जी की विलक्षण प्रतिभा और लोगों से व्यापक संपर्क, जिसने वार्ता को एक विशेष पहचान दी थी, उसका अभाव तो रहेगा ही। फिर भी वार्ता परिवार आप सबके सहयोग से अपनी प्रतिबद्धताओं की परंपरा को कायम रखने का प्रयास जारी रख सकेगा, ऐसी आशा है। संयोग से देश की राजनीति में इसी बीच एक बड़ा परिवर्तन आया है–भाजपा का सत्ता में आना। इस परिवर्तन से बुनियादी अर्थनीति में तो कोई परिवर्तन नहीं आया है, लेकिन जिस समूह के हाथ में सत्ता आई है उसकी मूल प्रतिबद्धताओं और तेवर का अब तक की मान्य लोकतांत्रिक परंपराओं और मूल्यों से मेल नहीं बैठता। इससे वैचारिक स्तर पर नई चुनौतियां आ गई हैं, जिनका सामना देश को करना है। पश्चिम एशिया और अपने पड़ोस में पाकिस्तान और अफगानिस्तान में इस्लामी चरम पंथ के उभार के समानांतर हमारे देश में भी हिंदुत्ववादी उन्माद को उभारने की कोशिश हो रही है, जो प्राचीन काल से आ रही भारतीय मान्यताओं और गाँधी के विचारों से अनुप्राणित राष्ट्रीय आंदोलन की धर्म-निरपेक्ष बहुलतावादी परंपरा के सामने बड़ी चुनौती है।

सत्तानशीन दल के पोषक और पृष्ठभूमि से उसके एजेंडे को प्रभावित करने वाला राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और विश्व हिन्दू परिषद जैसे संगठन खुले आम हमारी धर्म-निरपेक्ष परंपरा को चुनौती दे रहे हैं और यह मांग कर रहे हैं कि पड़ोस के कुछ इस्लामी देशों की तरह हम भी अपने को एक धर्म आधारित हिंदू राष्ट्र घोषित करें। संवैधानिक स्तर पर यह परिवर्तन नहीं भी हो तो इस विचार से अनुप्राणित सत्ताधारी दल की नीतियों में इसके विघटनकारी प्रभाव आए बिना नहीं रह सकते। शिक्षा के क्षेत्र में पाठ्य पुस्तकों में सांप्रदायिक मान्यताओं को घुसेड़ना और इतिहास परिषद जैसी संस्थाओं में मनमानी बहाली करना ऐसे प्रयास हैं जिनकी खबरें हाल के दिनों में प्रायः समाचार पत्रों में आती रहती हैं। अगर देश का ऐसा भावनात्मक विखंडन हो गया तो भारत राष्ट्र का विघटन कब तक रोका जा सकता है? जैसा इराक में हो रहा है, जो कई अरब देशों में हो रहा है, भारत में वैसे परिवर्तन की कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। शायद हमारी बहुलता और वैचारिक सहिष्णुता की परंपरा वैसा होने से रोक दे। लेकिन राजनीति में यह नया मोड़ चिंता का विषय है और इस दिशा में हमें सजग रहने की जरूरत है।

आर्थिक क्षेत्र में मोदी सरकार बेलगाम पूंजीवाद की नीति लेकर चलने की आग्रही है, जिसे नवउदारवाद (नियो लिबरल) का नाम दिया जाता है पर दरअसल इसमें उदार कुछ भी नहीं है। यह वही नीति है, जिसे पिछले एक दशक से मनमोहन सिंह की यूपीए भी सरकार चला रही थी और जिसमें लगातार किसानों, जनजातियों और आम तौर से गरीब लोगों की घनघोर उपेक्षा की जाती रही है। यह जरूर है कि इस नीति से शहरी क्षेत्र के कुछ हलकों में अधुनातन तामझाम का विस्तार हुआ है, कुछ भारतीयों की गिनती दुनिया की सबसे अमीरों में होने लगी है और चौतरफा दरिद्रता के बीच उनके ऐश्वर्य का घिनौना प्रदर्शन होने लगा है। सत्ता पाने की होड़ में एक दूसरे पर कीचड़ उछालने में सभी सीमाओं का उल्लंघन करने वाली भाजपा और कांग्रेस दरअसल आर्थिक नीति के मामले में आश्चर्यजनक ढंग से एक दूसरे के इतने समीप हैं कि उन्हें यमज (जुड़वाँ) कहना गलत नहीं होगा।

नए वित्त व रक्षा मंत्री अरुण जेटली के बजट पेश करने के बाद अंगरेजी अखबार (हिन्दू) ने 12 जुलाई 2014 को रुक्मणी. एस का एक तुलनात्मक अध्ययन छापा है। इसमें नए बजट के प्रावधानों की तुलना इसके पहले के मनमोहन सिंह सरकार के अंतरिम बजट से की गयी है। इस अध्ययन से यह प्रकट है कि दोनों सरकारों के विभिन्न मदों में किए गए प्रावधान आश्चर्यजनक रूप से एक जैसे हैं। अध्ययन का निष्कर्ष था कि जब आर्थिक वातावरण समान हो तो अलग-अलग विचारधाराओं के आय-व्यय के आंकड़ों में ज्यादा फर्क नहीं पड़ता। हकीकत यह है कि भाजपा और कांग्रेस, दोनों की अर्थनीति के क्षेत्र में विचारधारा भी एक ही है।

हालांकि तत्काल आय-व्यय के प्रावधानों में मनमोहन सिंह के अंतरिम बजट और जेटली के बजट में कोई फर्क नहीं है। भाजपा की नीति जैसा कि नरेन्द्र मोदी के स्वाधीनता दिवस पर दिये गए भाषण से ज्ञात होता है, उन्मुक्त पूंजीवाद की दिशा में कुछ बड़े कदम उठाने की होगी। इसमें सबसे महत्वपूर्ण कदम योजना आयोग को समाप्त करने का संकेत है। योजना आयोग के स्थान पर किसी विद्वत मंडली के निर्माण की गोल-मटोल बात की गई है, जिसकी भूमिका महज परामर्श दान की हो सकती है। इस प्रकार के कदम से पूंजीपतियों को जनहित को नजरअंदाज कर मनमाने ढंग से निवेश की छूट मिलेगी।

योजना आयोग का गठन निश्चय ही आजादी के बाद हुआ, लेकिन इसकी कल्पना आजादी के आंदोलन के दौरान ही की गई थी। 1930 के उत्तरार्ध में

(नेताजी) सुभाषचंद्र बोस ने इसकी पहल की थी और जवाहरलाल नेहरू और प्रसिद्ध वैज्ञानिक मेघनाद साहा जैसी हस्तियों को शामिल कर राष्ट्रीय योजना कमेटी की स्थापना हुई थी, जिसका उद्देश्य देश की अर्थनीति को राष्ट्रहित में निश्चित दिशा देना था। निस्संदेह इस पर रूस की पंचवर्षीय योजनाओं की उपलब्धियों का प्रभाव था। ऐसी योजना से उत्पादन और विकास की दिशा क्या हो, इस पर एक हद का अंकुश लग जाता है। इससे पूंजी निवेश की दिशा पर भी एक हद तक नियंत्रण हो जाता है। यह बात दीगर है कि इस दिशा निर्देश के भीतर भी पूंजीपतियों को निवेश और मुनाफे की पूरी छूट होती है। फिर भी कुछ मानकों और राष्ट्रीय उद्देश्यों को ध्यान में रखने की मज़बूरी होती है, जिनमें निजी पूंजी आगे नहीं आती और सार्वजनिक क्षेत्र को निवेश के लिए आगे आना होता है। इसके अलावा योजनाओं में राज्यों की विशेष प्राथमिकताओं का भी समावेश करना आवश्यक होता है। योजना आयोग के खतम होने के बाद पूंजी की अपनी प्राथमिकताएं—यानी मुनाफे की सीमाहीन चाहत—सर्वोपरि होगी।

पूंजीपतियों के दायरे के विस्तार के लिए तथाकथित पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप (पी.पी.पी) की भी बात की जा रही है। इसमें उन बड़ी योजनाओं में जो सार्वजनिक क्षेत्र में चलाई जाती हैं निजी क्षेत्र की हिस्सेदारी बढ़ाई जाएगी। अरुण जेटली के बजट में यह भी संकेत है कि सार्वजनिक क्षेत्रों के उपक्रमों में विनिवेश (डिसइन्वेस्टमेंट) बढ़ाया जाएगा। इसका संकेत इससे मिलता है कि सरकारी राजस्व में सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों से प्राप्त आय की संभावना घटेगी। प्रधान मंत्री के भाषण में दुनिया भर के उद्यमियों को हमारे देश में उत्पादन करने के लिए निमंत्रण दिया गया है, जिससे 'मेड इन इंडिया' दुनिया के बाजार में छा जाए। इस निमंत्रण में इस महत्वपूर्ण तथ्य को नजरअंदाज कर दिया गया है कि विदेशी कंपनियां अपने ब्रांड के तहत उत्पादन में रॉयल्टी के रूप में भारी मुनाफा कमाती हैं। उनके उत्पादन से 'मेड इन इंडिया' के बजाए इन कंपनियों के ब्रांड का प्रचार अधिक होगा और इनका मुनाफा देश से बाहर जाएगा। कुल मिला कर अरुण जेटली के बजट और प्रधान मंत्री मोदी के भाषण का मिला जुला निष्कर्ष यही निकलता है कि भारतीय अर्थ व्यवस्था में निजी क्षेत्र और विदेशी क्षेत्र का दाखिला और बढ़ेगा, जो मनमोहन सिंह के समय भी कम नहीं था। इस अंक में दक्षिण पश्चिम एशिया पर केन्द्रित कुछ लेख विशेष तौर पर दिए जा रहे हैं।

–सच्चिदानन्द सिन्हा

वार्ता के लिए लिखें

आज दुनिया में काफी उथल-पुथल मची हैं। कई तरह के संकट पैदा हो रहे हैं। इनके खिलाफ असंतोष, बेचैनी, आंदोलन और विद्रोह भी काफी व्यापक है। किंतु इनको समझने और आगे बढ़ाने के लिए विचार-विश्लेषण भी जरूरी है। वैचारिक प्रक्रिया बगैर विरोध और विद्रोह दिशाहीन होकर भटक जाएगी।इसी संदर्भ में सामयिक वार्ता का महत्व है, विचार, विश्लेषण, संवाद और विमर्श के एक मंच के रूप में। हम यह चाहते हैं कि इसमें व्यापक भागीदारी हो और यह थोड़े से बुद्धिजीवियों का बुद्धि विलास बनकर न रह जाए।इस देश में हिंदी का क्षेत्र बहुत बड़ा है।वार्ता देश के हर कोने में पहुँचे, यह हमारी इच्छा है। जनांदोलनों के कार्यकर्ताओं के लिए वार्ता वैचारिक शिक्षण और जानकारियों का स्रोत बने, यह भी इच्छा है। हम चाहते हैं कि वार्ता की भाषा पांडित्यपूर्ण होने के बजाए सरल, सहज और ऐसी हो कि साधारण पढ़े-लिखे लोग आसानी से समझ सकें। गहन विषयों और विमर्श को भी सरल भाषा में पेश किया जा सकता है, ऐसा हमारा विश्वास है।

हम सामयिक वार्ता के विषयों का दायरा बढ़ाने और उसमें ज्यादा विविधता लाना चाहते हैं। राजनीति, अर्थनीति, समाजशास्त्र और जनांदोलनों के साथ हम इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य, फिल्म, रंगमंच, विज्ञान, पर्यावरण, कानून, मानव अधिकार, खेल आदि जीवन के विविध पहलुओं को भी छूना चाहते हैं।लेखों के अलावा रपट, बातचीत, समीक्षा, डायरी, कविता आदि को भी हम वार्ता का हिस्सा बनाना चाहते हैं। इसकी कुछ झलक वार्ता के पिछले अंकों में मिली होगी।मोटे तौर पर गाँधी, लोहिया, जयप्रकाश, आंबेडकर की धारा से जुड़े होने के बावजूद हम वैचारिक रूप से ज्यादा खुलेपन की वार्ता में गुंजाइश रखना चाहते हैं और विविध वैचारिक धाराओं के बीच संवाद और स्वस्थ बहस को भी बढ़ाना चाहते हैं। दुनिया में जहाँ भी इक्कीसवीं सदी के समाजवाद के नए प्रयोग हो रहे हैं, उनकी जानकारी देना और विचार-मनन के लिए पेश करना भी हम अपना काम मानते हैं। आज मीडिया तेजी से कॉर्पोरेट मीडिया बनता जा रहा है। मुनाफे की पूजा के चक्कर में मीडिया में विचार की जगह बची ही नहीं है और एक तरह के अराजनीतिकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है। वैकल्पिक मीडिया की जरूरत आज और ज्यादा बढ़ गई है। इस संदर्भ में भी सामयिक वार्ता का महत्व है।

आशा है कि आपका सहयोग इस प्रयास में मिलता रहेगा। आप हमें अपनी रचना डाक या ई-मेल से भेज सकते हैं।

इक्कीसवीं सदी का समाजवाद : नये मूल्यबोध

सच्चिदानंद सिन्हा

सामाजिक घटनाएँ मनुष्य द्वारा निर्धारित युगों या सदियों के हिसाब से घटित नहीं होतीं। फिर भी हम अपनी सुविधा के हिसाब से सामाजिक घटनाओं को सदियों या दूसरे कालखंडों में बाँटते रहते हैं, हालाँकि कुछ व्यतिक्रम इससे जुड़ा रहता है। इक्कीसवीं सदी में समाजवाद की क्या रूपरेखा होगी या होनी चाहिए, इसका निर्धारण तो इस बात से होगा कि पूर्ववर्ती सदी से आ रही घटनाओं के दबावों का सामना हम कैसे करते हैं। यह प्रबल इच्छा-शक्ति और समझ की माँग करता है। अपने समय के प्रचलित दबावों के अनुरूप अपने को ढालने की सुविधाजनक अवसरवादिता तो घातक होगी[1]। हालाँकि काफी लोग इस हकीकत को स्वीकार करने लगे हैं कि वर्तमान औद्योगिक सभ्यता मनुष्य और प्रकृति का विनाश करने वाली है, लेकिन इस संबंध में लोगों में एक तरह का नियतिवाद व्याप्त है जो इससे (वर्तमान औद्योगिक सभ्यता से) छुटकारा पाना असंभव मानता है। अब हम समाजवादियों की स्थिति इस समस्या के सामने क्या है?

समाजवादी आंदोलन की दृष्टि से उन्नीसवीं सदी उत्साह और सपनों की सदी थी। इस सदी में अनेक यूटोपियाई प्रयोग हुए, अराजकवादी और मार्क्सवादी विचारों का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अलावा ऐसे विचारक हुए, जो राज्य सत्ता का इस्तेमाल कर श्रमिकों की जीवन-स्थिति को सुधारने के प्रयास कर रहे थे, जैसे जर्मनी में लासाल और ब्रिटेन में फेबियन समूह के लोग। इन सबकी आशा औद्योगिक क्रांति से पैदा नई संभावनाओं पर टिकी थी। प्राकृतिक शक्तियों एवं संसाधनों—जैसे जल-धारा, पवन-ऊर्जा और कोयला तथा बाद में पेट्रोलियम आदि से प्राप्त ऊर्जा के इस्तेमाल से औद्योगिक उत्पादन में चमत्कारी परिवर्तन हो रहे थे। रेलमार्गों और भाप से चलने वाले जहाजों से जमीन पर और महासागरों के ऊपर लंबी यात्राएँ संभव हो रही थीं। इनसे वैश्विक स्तर पर विशाल मात्रा में उत्पादन और विपणन संभव हो गया था। ऐसे में इस आशा का जगना स्वाभाविक था कि समतामूलक वितरण से नई तकनीकों से होने वाले उत्पादन की प्रचुरता के कारण सबके लिए थोड़े श्रम से आराम का जीवन उपलब्ध करना संभव हो पाएगा। क्रांति के लिए निर्धारित राह सुगम थी यानी औद्योगीकरण के शीर्ष बिंदु पर दुनिया का ध्रुवीकरण एक अत्यंत छोटे पूँजीपति वर्ग और विशाल संख्या वाले ऐसे श्रमिकों के बीच होगा, जिनके पास गँवाने के लिए कुछ भी नहीं होगा, सिवाय उनको जकड़ कर रखने वाली जंजीरों के। क्रांति से ये जंजीरें टूटेंगी और समाजवाद कायम होगा।

मार्क्सवादी दृष्टि यही थी, जिसे यूरोप के अधिकांश मजदूर आंदोलन ने अपना लिया था। इतना ही नहीं दुनिया के अनेक गैर औद्योगिक कृषि व्यवस्थाओं वाले समाजों पर भी इस मार्क्सवादी दृष्टि का प्रभाव पड़ रहा था। क्रांति संबंधी इस विचार में दो परिदृश्य कल्पित थे : एक, अत्यधिक विकसित औद्योगिक देशों में औद्योगिक मजदूर स्वयं क्रांति की कमान संभालेंगे; दो, औद्योगिक दृष्टि से कम विकसित देशों में नेतृत्व औद्योगिक मजदूरों का होगा, लेकिन उसे बल मिलेगा जमीन के भूखे किसानों से जो क्रांति के क्रम में भूस्वामियों की जमीन आपस में बाँट लेंगे। पहले परिदृश्य में श्रमिक विकसित हो चुकी अर्थव्यवस्था को अपने हाथों में ले लेंगे और विकसित उत्पादकता का लाभ स्वयं (श्रमिक) को और अब तक वंचित रहे समूहों को प्रदान करेंगे। दूसरे परिदृश्य में औद्योगिक श्रमिक बड़े भू-स्वामियों की जमीन पर कब्जा करने के लिए किसानों को प्रोत्साहित कर उनका समर्थन हासिल करेंगे।

विडंबना यह है कि पहले परिदृश्य के हिसाब से क्रांतियाँ शायद ही कहीं सफल हुई हों, लेकिन बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में विश्व के कई भागों में दूसरे परिदृश्य के हिसाब से क्रांतियाँ हुईं। इस हिसाब से क्रांति के नाटक का सबसे सफल मंचन रूस में हुआ, जहाँ 1917 में बोलशेविकों ने सत्ता अपने हाथों में ले ली। इस समय रूस में औद्योगिक आधार काफी छोटा था, हालाँकि कुछ अतिविकसित उद्योग स्थापित हो चुके थे। इसके तीस साल बाद चीन के किसानों के भारी समर्थन के आधार पर कम्युनिस्टों ने शासन अपने हाथों में ले लिया। चीन की अर्थव्यवस्था में तो उद्योगों का आधार और भी छोटा था और वे (उद्योग) अत्यंत पिछड़े हुए थे। इसके बाद क्रांतियों का एक सिलसिला दक्षिण पूर्वी एशिया में शुरू हुआ, जैसे वियतनाम और कंबोडिया (कंपूचिया) में। इन देशों में भी औद्योगिक व्यवस्था अति पिछड़ी थी और क्रांति का आधार काफी हद तक किसानों में फ्रांसीसी और अमरीकी साम्राज्यवाद के खिलाफ जनभावना का उभार था। (क्यूबा की क्रांति की कहानी

1. यह विश्वास कि औद्योगिक विकास अनिवार्य रूप से सर्वहारा (मजदूर) क्रांति और समाजवाद की ओर ले जाता है, पूरी तरह भ्रामक साबित हुआ है।

अलग और एक विशेष परिस्थिति की उपज है और उसकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे)

जिन सब देशों में कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में क्रांतियाँ सफल हुईं, उन सबमें आधुनिक उद्योगों का आधार अत्यंत छोटा था और औद्योगिक मजदूरों की उपस्थिति नगण्य थी। इस तरह क्रांतियों का वह परिदृश्य जो मार्क्सवादी चिंतन में प्रस्तुत किया गया था, वह सिर के बल खड़ा दिखा—यानी कम्युनिस्ट शासन (सत्ता) को ही वह आधार तैयार करना था, जिससे औद्योगिक मजदूर अस्तित्व में आएं।

कुल मिलाकर अब कम्युनिस्ट इलीट (समाजवादी हरावल) की यह जिम्मेवारी बन गई कि वह आधुनिक उद्योग और औद्योगिक सर्वहारा वर्ग को अस्तित्व में लाए। इस चुनौती का सामना होने पर कम्युनिस्ट नेतृत्व ने यह अनुभव किया कि आधुनिक उद्योगों का ढाँचा खड़ा करने और उसके कार्य-कलापों को गति और स्थायित्व प्रदान करने के लिए मनुष्यों और प्राकृतिक संसाधनों का वैसा ही दोहन अपरिहार्य है जैसा कि औद्योगिक पूँजीवाद के विकास के आधार में था। 'आदिम पूँजी संचय' के प्रारंभिक पाप की छाया कम्युनिस्ट शासन (सत्ता) के तहत औद्योगिक विकास पर उसी तरह मँडराती रही जिस तरह पूँजीवाद के प्रारंभिक विकास पर मँडराती रही थी। तथाकथित समाजवादी समाज के उत्पादन लक्ष्यों को पूरा करने के लिए मजदूर वर्ग का पूँजीवाद के तहत उतना ही या उससे भी अधिक शोषण करना जरूरी था।

1920 के अप्रैल महीने में रूस में क्रांति के बाद कम्युनिस्टों-बोलशेविकों के शासन के स्थापित होने के बाद रूसी ट्रेड यूनियनों की तीसरी कांग्रेस में मजदूरों को कठोर अनुशासन के तहत लाने का मुद्दा उठा। यह वह समय था जब मजदूरों पर सैनिकों जैसा अनुशासन लागू करने की कोशिश चल रही थी। मेनशेविक[2] इस तरह की कोशिश का विरोध कर रहे थे। लेकिन ट्राटस्की, जो सरकार में युद्ध मंत्री था, उद्योगों में श्रमिकों पर सख्ती बरतने का समर्थक था। उसने कांग्रेस में अपने भाषण में यह तर्क दिया था कि "मानव समाज का पूरा इतिहास अधिक उत्पादन के लिए श्रमिकों के प्रशिक्षण का इतिहास है। यह कोई आसान काम नहीं है, क्योंकि मनुष्य आलसी होता है और ऐसा होने का उसका अधिकार है। स्वतंत्र मजदूर भी प्रारंभ में उत्पादक नहीं था। वह सामाजिक प्रशिक्षण से उत्पादक हो पाया है। इस प्रशिक्षण के लिए सभी तरह के उपाय किए गए। शुरू में पूँजीपतियों ने किसानों को उनके खेतों से खदेड़ कर स्वयं उनके खेतों पर कब्जा किया। जब किसानों ने कारखानों में काम करने में हिचकिचाहट दिखलाई तब पूँजीपतियों ने उन्हें गरम लोहे से दागा, फाँसी की सजा दी या गोली से मार दिया। पूँजीपतियों ने इन्हीं तरीकों से मजदूरों को कारखानों में उत्पादक काम करने को मजबूर किया। इस दिशा में हमारा तरीका क्या है? वे पूँजीपतियों से कम विविधतापूर्ण नहीं है, लेकिन ज्यादा ईमानदार और स्पष्ट है तथा छद्म से भ्रष्ट नहीं हैं।"

ट्राटस्की दरअसल पूँजी संचय की उन प्रारंभिक प्रक्रियाओं का जिक्र कर रहा था, जिनकी ओर मार्क्स ने 'पूँजी' के प्रथम भाग के अंतिम हिस्से में 'प्राथमिक संचय' (प्रीमिटव ऐक्युमुलेशन) शीर्षक के तहत ध्यान खींचा था। जो मार्क्स को एक बार का 'प्रारंभिक पाप' दिखा था, जिससे औद्योगिक उत्पादन की अंतहीन प्रक्रिया शुरू होती है। दरअसल यह लगातार चलते रहनेवाली प्रक्रिया है। औद्योगिक उत्पादन की प्रक्रिया जहाँ भी शुरू होती है, उसका प्रारंभ एक चक्रवात की तरह होता है। प्रत्येक चक्रवात का केंद्र प्राकृतिक और मानव जीवन को नष्ट कर सकता है और उनके अवशिष्ट को (बचे हुए अंश) मथ कर और सुड़क कर कारखाने तक लाता है, जिससे औद्योगिक वस्तुओं का निर्माण होता है। इस्पात की एक छोटी-सी चमकीली पिन (आलपिन) बनाने के लिए लौह अयस्क का खोदा जाना जरूरी है, संभवतः किसी पर्वतीय अंचल से, जहाँ किसानों या आदिवासियों की बस्ती होती है; भट्ठी के लिए कोयला किसी दूसरे अंचल से संभवतः किसी वन-भूमि से आता है जिससे जंगल नष्ट होते हैं और लोगों का विस्थापन होता है। जहाँ ऊर्जा का स्रोत पनबिजली है, वहाँ किसी नदी या जल-धारा को बाँधों से रोका जाता है जिससे विशाल भूखंड जलमग्न हो जाते हैं, वन नष्ट हो जाते हैं और नदी तट पर बसने वाले लोगों का विस्थापन होता है। यह आधुनिक कारखानों में बनाई जाने वाली सभी वस्तुओं के पीछे की कहानी है—चाहे वह इस्पात से बनी हुई वस्तु हो, चाहे तांबे से बनी हो या अल्युमीनियम से। अंततः ऐसी सभी वस्तुएँ मानव रक्त से सनी होती हैं और प्राकृतिक परिवेश को वीरान बनाकर आती है। उत्पादन की मात्रा जितनी बड़ी होगी, मानव और प्रकृति के विनाश का दायरा भी उतना बड़ा होगा। इस प्रक्रिया से बचा नहीं जा सकता, चाहे इसे मातृभूमि के गौरव के नाम पर किया जाए या समाजवाद के नाम पर। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि वे दोनों व्यवस्थाएँ जिनमें एक अपने को समाजवादी कहती थी और दूसरी अपने को उन्मुक्त बाजार व्यवस्था या पूँजीवादी व्यवस्था, एक बिंदु पर आ मिलीं और पिघल कर वे उत्पादन की एक ही तरह की औद्योगिक प्रणाली में परिणीत हुईं जिसमें गलाकाट प्रतिस्पर्धा और पिरामिडनुमा गैर बराबरी अंतर्निहित थी।

मजदूरों को अनुशासित कर कारखानों में बेरोक-टोक निर्बाध काम करवाना

2. मेनशेविक और बोलशेविक रूस की सोशल डेमोक्रैटिक लेबर पार्टी के दो खेमों में बँटे लोगों को कहा जाता था। बोलशेविक सत्ता में आए।

औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के प्रयासों का सिर्फ एक अंग है। तेज और अनवरत विकास के लिए मजदूरों की विशाल मात्रा में बहाली के अलावा उनके (मजदूरों के) भोजन के लिए खाद्य की सप्लाई को सुनिश्चित करना और उद्योगों के लिए कृषिजन्य कच्चा माल उपलब्ध करना जरूरी होता है। सोवियत यूनियन में इन जरूरतों को पूरा करने के लिए कृषि का सामूहिकीकरण (कलेक्टिवाइजेशन) किया गया। सामूहिकीकरण से विशाल मात्रा में विस्थापित हुए और जीविका से वंचित हुए किसानों को दूरदराज के इलाकों में जाने को बाध्य किया गया और वहाँ सड़कों, नहरों के निर्माण और अन्य निर्माण कार्यों में लगाया गया। दो दशकों के भीतर सोवियत यूनियन जो मूलतः एक ग्रामीण कृषि आधारित समाज था, एक शहरी औद्योगिक व्यवस्था में तब्दील हो गया।

एक विकसित औद्योगिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए इटली और जर्मनी ने फासीवाद के तहत सर्वसत्तावादी तथाकथित 'कारपोरेट राज्य' की स्थापना की। इन दोनों देशों की सर्वसत्तावादी सरकारें खुलेआम सैन्य शक्ति को गरिमा मंडित करती थीं और आक्रमण कर अपने क्षेत्र का विस्तार करने में विश्वास करती थीं। विस्तारवाद के पीछे संसाधनों की भूख भी थी। इधर पूरब में उदीयमान औद्योगिक देश जापान का भी जर्मनी और इटली जैसा ही मकसद था, जिसे वह 'सहभागी समृद्धि का क्षेत्र विस्तार' कहकर महिमा मंडित करता था। इन विस्तारवादी देशों को ब्रिटेन, फ्रांस और नीदरलैंड (हालैंड) के खिलाफ अपनी ताकत की आजमाइश करनी थी, क्योंकि इनके पहले से ही एशिया और अफ्रीका में विशाल उपनिवेश (साम्राज्य) थे। अपने देश के भीतर सख्ती से जीवन को नियंत्रण में रखना और कच्चे माल व बाजार के लिए बाहर शक्ति का विस्तार करना एक आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था की जरूरतों को पूरा करने के लिए बिलकुल माकूल माना जाता था। संयुक्त राज्य अमेरिका को तो एक राष्ट्र के रूप में स्थापित होने के समय से ही वे सारे प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध थे, जिनकी आवश्यकता एक औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था को होती है। सस्ते मजदूरों की जरूरत को उसने (अमेरिका ने) अफ्रीका से गुलाम बनाकर लाए गए लोगों से की; उन्हें कपास और तंबाकू के फार्मों में गुलाम मजदूरो के रूप में खटाया।

(2)

ब्रिक्स राष्ट्रों (ब्राजील, रूस, भारत चीन और दक्षिण अफ्रीका) का हाल के वर्षों में तेज विकास इस हकीकत को फिर से बताता है कि अयस्क, ईंधन, कृषिजन्य सस्ते कच्चे माल और सस्ते श्रम का उपलब्ध होना तेज आर्थिक विकास के लिए कितना आवश्यक है। जैसे-जैसे साम्राज्य के सुनहले दिन बीतते गए, पुराने साम्राज्यवादी औद्योगिक देश विकास की दौड़ में पिछड़ने लगे; उनमें औद्योगिक उत्पादन में ठहराव की स्थिति पैदा हो गई है। इसके विपरीत ब्रिक्स देशों की राष्ट्रीय आय में तेज विकास हो रहा था। एक समय चीन की राष्ट्रीय आय में 12 प्रतिशत तक सालाना विकास हुआ। स्वयं हमारे देश भारत में एक समय राष्ट्रीय आय की वृद्धि-दर 9 प्रतिशत तक हो गई थी। सभी ब्रिक्स देशों में अपने आंतरिक उपनिवेश हैं, जिनसे खनिज, कृषि पदार्थ और सर्वोपरि प्रचुर सस्ता श्रम उपलब्ध है।

हाल के दिनों में ब्रिक्स देशों में राष्ट्रीय आय की वृद्धि-दर में गिरावट आई है। यह गिरावट इस बात को दर्शाती है कि इनमें संसाधनों के आंतरिक स्रोत घट रहे हैं या उन्हें प्राप्त करने में प्रतिरोध का सामना करना पड़ रहा है। भारत बेसब्री से खनिज और कोयले की तलाश दूसरे देशों में कर रहा है। तेल के लिए तो वह सदा ही बाहरी स्रोतों पर आश्रित था; उसकी सालाना आय की दर का भी अब घट कर 5 प्रतिशत हो जाना महत्वपूर्ण संसाधनों की उपलब्धि पर पड़ने वाले दबाव को प्रतिबिंबित करता है। कोयला और अयस्क की फिलहाल आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, इंडोनेशियो और दूसरे स्थानों में तलाश कर रहा है। ऊर्जा की उपलब्धता को बढ़ाने के लिए पर्यावरण पर पड़ने वाले घातक परिणाम की उपेक्षा कर वह खतरनाक नाभिकीय ऊर्जा के संयंत्र लगा रहा है। नर्मदा बाँध की ऊँचाई को पहले के विस्थापित लोगों के पुनर्वास की कोई व्यवस्था किए बिना बढ़ाना और अरुणाचल और हिमालय के दूसरे संवेदनशील इलाकों में बाँधों और सुरंगों (टनेल) का जाल बिछाना इसी बेसब्री को दर्शाता है। हाल का उत्तराखंड का भयावह जल-प्रलय, वर्तमान विकास और विनाश की पारस्परिकता को साफ-साफ दर्शाता है। जंगलों की अंधाधुंध कटाई और पर्वतीय क्षेत्र में सुरंगों (टनेल) का ताना-बाना उत्तराखंड के भयावह जल-प्रलय के लिए सीधे जिम्मेवार है।

जब हम अपने चारों ओर निगाह दौड़ाते हैं तो कुल मिलाकर यह दिखाई देता है कि वर्तमान आर्थिक विकास से गैर बराबरी, ऊर्जा और कच्चे माल की न मिटनेवाली भूख और पर्यावरण के क्षय का सीधा ताल्लुक है; ये उसके अभिन्न अंग बन गए हैं। इन सब बातों को ध्यान में लाने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस तरह के आधुनिक विकास का एक समतामूलक लोकतांत्रिक समाज से मेल नहीं बैठता, बैठ नहीं सकता।

रूस की क्रांति के बाद वहाँ स्टालिन की तानाशाही का उदय होना, यूरोप में लोकतांत्रिक समाजवाद (सोशल डेमोक्रेसी) की असफलता और चीन में अधिनायकवादी पूँजीवाद का ऐसे समय उदय होना, जब चीन के शासकों के पास इतनी अधिक और समग्र शक्ति थी कि वे एक समानतावादी

समाज गढ़ सकते थे—यह सब एक ऐसा 'प्रहसन' है जो हमें बताता है कि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के ढाँचे में ही गैर बराबरी और तानाशाही के तत्व हैं। सही अर्थ में समाजवादी समाज बनाने के लिए, जिसमें समता और स्वाधीनता हो हमें नए तरह की अर्थ-व्यवस्था और नए मूल्यबोध विकसित करने की जरूरत है।

(3)

इस तरह की विकसित नई तरह की अर्थ-व्यवस्था और नए मूल्यबोध के लिए हमें शायद जीवन के उन आयामों को पुनर्जीवित करना होगा जिनके कुछ तत्व आदिम जनजातियों में पाए जा सकते हैं जिन पर आधुनिक सभ्यता के विनाशकारी तत्वों का कम से कम प्रभाव पड़ा है।

इसके लिए नई सदी के समाजवादी आंदोलन को धरती के पर्यावरण की रक्षा कर उसके मूल तत्वों को संजोना होगा। इसका यह भी अर्थ होगा कि उन आदिम और कृषि आधारित व्यवस्थाओं को बचाए रखा जाए जो अब तक आधुनिक औद्योगिक प्रक्रियाओं से अपने को सुरक्षित रख पाए हैं; इसके लिए शायद वैसी कृषि को पुनर्जीवित करना होगा जो पूरी तरह जैविक तत्वों पर आधारित उत्पादन-चक्र अपनाती रही है। इस तरह प्रकृति से निकाले गए तत्वों की भरपाई हो सकेगी। इस संक्षिप्त लेख का उद्देश्य यह एहसास करवाना है कि हम कितने भयंकर दुष्चक्र में घिर कर फँस गए हैं। हमें उन परंपराओं के पुनरावलोकन की भी जरूरत है, जिनके आलोक में एक नई शुरूआत हो सकती है। औद्योगिक स्वप्नलोक की आकांक्षा एक भयावह मृगमरीचिका सिद्ध हुई है। यह तो हमें ऐसे नतीजों पर पहुँचाती है जो समाजवादी आंदोलन के आदि प्रणेताओं के उद्देश्यों के बिलकुल विपरीत है।

हमें यह कबूल करना होगा कि हम धरती पर जी रही असंख्य प्रजातियों में एक हैं और एक प्रजाति के रूप में हमारा अस्तित्व तभी बचेगा, जब हम विकास की प्रक्रियाओं का पालन करें अर्थात् अपने को प्राकृतिक चयन के अनुकूल बनाएँ; जीव-जगत से ही नहीं पेड़-पौधे, पशु-पक्षी यहाँ तक कि जीवाणुओं से भी, जिनके साहचर्य के बिना हम जीवित नहीं रह पाते, समरसता सामंजस्य और सहअस्तित्व का संबंध बनाएं। यह साहचर्य के एक विशाल दायरे की माँग करता है यानी सभी जीवित वस्तुओं से साहचर्य। यह अनिवार्य रूप से दूसरे मनुष्यों के साथ हमारे संबंधों को भी विशिष्ट मर्यादा प्रदान करेगा, जो समाजवाद का सारतत्व है।

❑

समाज का मतलब कुदरत के साथ जीना

10 अगस्त , 2014 को मुम्बई के निकट तारा गांव स्थित युसुफ मेहर अली सेन्टर में वयोवृद्ध समाजवादी डॉ जी. जी. पारीख के 90 वर्ष का होने के उपलक्ष्य में एक संगोष्टी का आयोजन हुआ। इस संगोष्टी में डॉ. जी. जी. पारीख ने 'समाजवाद का भविष्य' विषयक सत्र में संबोधन किया। उनके संबोधन पर आधारित संक्षिप्त नोट यहां प्रस्तुत है :

भारत में समाजवाद की चर्चा स्वामी विवेकानन्द ने शुरू कर दी थी। इस शब्द (समाजवाद) के अर्थ को हम कैसे बचाएंगे? एक समय था जब भारतीय जनता पार्टी भी अपने उद्देश्य के रूप में 'समाजवाद' को जोडती थी। रोनाल्ड रेगन और मार्गरिट थैचर से साठ साल पहले से ही सी. आई. ए. ने समाजवाद के विरुद्ध अभियान शुरु कर दिया था। दूसरा शब्द है 'समता'। इसे आर्थिक समता की दृष्टि से परिभाषित करना होगा। सांप्रदायिक ताकतों द्वारा तैयार युद्ध भूमि में सद्भाव और समाजवाद की लड़ाई नहीं हो सकती। जब हम आर्थिक प्रश्नों को उठाते हैं तब हिन्दू और मुसलमान दोनों उस मुहिम से जुड़ते हैं।

मैंने दस वर्ष की उम्र से ईश्वर को नकारा था। मेरे लिए धर्म, कर्तव्य, जीवन, मृत्यु सब समाजवाद है। इंसान इतिहास बनाता है। समाजवाद कौन लाएगा, इसके वाहक कौन होंगे? माओ ने कहा किसान लाएंगे, जेपी ने कहा छात्र लाएंगे।

सत्ता और समाजवाद के रिश्ते को आचार्य नरेन्द्र देव ने विश्लेषित किया था। मुकुट बिहारी लाल ने आचार्यजी के विचारों को रखते हुए लिखा है कि सत्ता का स्वभाव केन्द्रीकरण का होता है। इसके साथ सत्ता हासिल करने की लालसा आ जाती है। सत्ता भ्रष्ट बनाती है। 21वीं सदी के समाज को इस सन्दर्भ में एक व्यावहारिक रुख अपनाना होगा।

इस सदी की सबसे बड़ी चुनौती यह है कि विज्ञान ने कुदरत या प्रकृति को अपने उपयोग की वस्तु बना लिया है। कुदरत के साथ जीने के तरीके ढूंढने से ही समाजवाद परिभाषित होगा। हमें समाजवाद के लायक बनना होगा। समाजवादी इंसान बनाने के लिए इंसान को बदलना होगा। मैं परिवर्तन के औजार (दल) को तोड़ूंगा नहीं–इस सिद्धान्त के कारण लोहिया के विचारों को सही मानते हुए भी मैंने प्रसोपा नहीं छोड़ी थी।

भविष्य का समाजवाद

सुनील

मानव समाज के कल्याण के लिए कौन-सा सपना उपयुक्त है, पूँजीवाद का या समाजवाद का? इन दो सपनों के बीच लड़ाई अभी भी समाप्त नहीं हो पाई है। यह लड़ाई कुछ उसी तरह की प्रतिद्वंद्विता की लड़ाई है, जो कछुए और खरगोश के बीच गंतव्य पर पहले पहुँचने की दौड़ की कथा में प्रकट होती है। कभी कछुआ जीतता मालूम पड़ता है तो कभी खरगोश। पूँजीवाद कथा के खरगोश जैसा है, वह तेज दौड़ता हुआ और चुस्त-दुरुस्त ऊर्जा से भरपूर मालूम पड़ता है, लेकिन कुछ समय बाद अपने घमंड और आलस्य (अंतर्विरोधों) के कारण वह थका और सुस्ताता जान पड़ता है। हम जानते हैं आखिर में समाजवाद का कछुआ (अपनी लगन और धीरज के चलते) ही दौड़ में टिक पाएगा। लेकिन वह आखिर (अंतिम समय) अब तक नहीं आया है।

पिछली सदी (बीसवीं सदी) के अंतिम दशकों में पूँजीवाद अपने चरम उत्कर्ष पर था और उसे चुनौती दे सकना असंभव जान पड़ता था। सोवियत यूनियन के विघटन, चीन, वियतनाम और अन्य बहुतेरे कम्युनिस्ट देशों के पूँजीवादी रास्ते पर चल पड़ने और यूरोप में लोकतांत्रिक समाजवाद (सोशल डेमोक्रेसी) के पतन के बाद पूँजीवाद के समक्ष कोई चुनौती नहीं रह गई। ऐसे में बड़े दंभ के साथ 'इतिहास के अंत' का एलान किया गया। अमरीकी राष्ट्रपति रीगन और ब्रिटिश प्रधानमंत्री मारगरेट थैचर की बाजार के आधिपत्य और उसके मूल सैद्धांतिक आधार को सर्वोपरि बताने वाली धारणाओं की जय-जयकार होने लगी—दुनिया पर इन धारणाओं का प्रभुत्व छा गया। लेकिन कुछ ही समय के भीतर बहुत सारे संकट भी प्रकट हो गए। एक तरफ जलवायु-परिवर्तन और पृथ्वी के तापमान में वृद्धि (ग्लोबल वार्मिंग) का संकट उजागर होने लगा, तो दूसरी तरफ 1930 के दशक के बाद आई सबसे ज्यादा भयानक मंदी के कारण दुनिया का वित्तीय संकट इस तरह प्रकट हुआ कि पूँजीवादी सभ्यता की श्रेष्ठता और उसके शाश्वत (अमर) बने रहने में लोगों का विश्वास डगमगाने लगा; पूँजीवादी सभ्यता संकटापन्न हो गई। इन सब बातों के साथ-साथ भूख, कुपोषण, बेघर होने की समस्याओं और हिंसा व युद्ध की आशंका से निपटने की संभावनाएँ क्षीण होने लगी। दुनिया में भूखे लोगों की संख्या बढ़ती ही गई और इस सदी (2001) के प्रथम दशक में 100 करोड़ पार कर गई; इसका मतलब यह होता है कि दुनिया का हर छठा आदमी अधपेटा और भूखा है। यह पूँजीवाद की शायद सबसे बड़ी असफलता है—एक ऐसी असफलता जो छिपाई नहीं जा सकती। दो सदियों की औद्योगिक क्रांति और विज्ञान व टेक्नोलॉजी की चमत्कारपूर्ण प्रगति के बावजूद पूँजीवाद मानव-जाति की सबसे बुनियादी आवश्यकता तक को पूरा करने में अक्षम है।

इस तरह 21वीं सदी का प्रारंभ पूँजीवाद की श्रेष्ठता, उसके औचित्य और उसके अपराजेय होने के बारे में नई शंकाओं के जन्म लेने के साथ हुआ है। ऐसे में समाजवाद की, जिसे भुला दिया जा रहा था, फिर से चर्चा होने लगी। लेकिन किस प्रकार का समाजवाद? समाजवाद का अर्थ क्या है? यह (समाजवाद) किस प्रकार उस समाजवाद से भिन्न है, जिसको पिछली सदी में प्रयोग में लाया गया था और जो असफल रहा! समाजवाद को लेकर बहुत सारे भ्रम हैं।

एक तरह से देखें तो हम जो इस दुनिया को बेहतर बनाना चाहते हैं, पिछली सदी के अपने पहले के लोगों से ज्यादा भाग्यशाली हैं। हमारा पूँजीवाद का अनुभव पहले के लोगों से ज्यादा है; हमने पिछली सदी के कम्युनिस्ट-समाजवादी प्रयोगों को देखा है, जिनसे हम काफी-कुछ सीख सकते हैं। पिछली सदी से मुख्य रूप से हम क्या सबक ले सकते हैं? यह हमारी दृष्टि और विश्लेषण-क्षमता पर निर्भर करता है। क्या हम पहले की अपेक्षा समाजवाद की अवधारणा के बारे में ज्यादा स्पष्टता से सोच पा रहे हैं? क्या हम पहले की अपेक्षा अपनी गलतियों के प्रति ज्यादा सजग हैं? क्या हमारी अंतर्दृष्टि पहले से ज्यादा विकसित हुई है?

बीसवीं सदी के सबक

हम पिछली सदी के अनुभवों और उनसे मिली सीख पर विचार करें :

(1) पूँजीवाद उस तरह दुनिया को बदल नहीं पाया, जिस तरह उसके समर्थकों ने ही नहीं, मार्क्स तक ने सोचा था। उसने दुनिया में विभिन्न हिस्सों को अपने समर्थकों और मार्क्स के सोच के विपरीत भिन्न तरीकों से बदला। उसने कुछ लोगों को समृद्ध किया; उन्हें विलासिता के उपकरण उपलब्ध किये, उनके उपभोग का स्तर बेहद बढ़ाया तो कुछ लोगों को भूख, गरीबी और बेरोजगारी दी। कुछ लोगों के प्रति पूँजीवाद अत्यधिक कृपालु और दयालु रहा, लेकिन कुछ लोगों के प्रति नृशंस और निर्मम—कुछ के साथ पक्षपात तो कुछ के साथ भेदभाव। एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका के विशाल क्षेत्रों में पूँजीवाद के दुष्परिणाम आशा के विपरीत संक्रमणकाल के परिणाम न होकर

स्थायी बने रहे और वे पहले से भी ज्यादा भयंकर होते जा रहे हैं। औद्योगिक क्रांति पहले पश्चिमी यूरोप और उसके बाद उत्तर अमरीका व जापान में तो हुई लेकिन दुनिया के दूसरे क्षेत्रों में न हो सकी; औद्योगिक क्रांति अन्य क्षेत्रों में पनपने नहीं पाई। उन देशों में जहाँ सरकार (राज्य) ने औद्योगीकरण को अपनी योजनाओं द्वारा अन्य प्रकार के उपायों से बढ़ावा देने की भरपूर कोशिश की, वहाँ भी औद्योगीकरण आबादी के एक बड़े हिस्से को रोजगार प्रदान न कर सका। सोवियत यूनियन, चीन और भारत में भी यही हुआ।

(2) मार्क्स ने पश्चिमी यूरोप के संदर्भ से भविष्य को देखा; उसकी यह भविष्यवाणी गलत साबित हुई कि पश्चिमी यूरोप के देश चूँकि औद्योगिक और पूँजीवादी दृष्टि से सबसे अधिक विकसित हैं, इसलिए क्रांति वहीं होगी, लेकिन क्रांति, पश्चिमी यूरोप के देशों में न होकर उन देशों में हुई, जो पूँजीवादी दृष्टि से अपेक्षाकृत पिछड़े थे और जहाँ औद्योगीकरण कम हुआ था। क्रांति चीन जैसे देश में हुई, जहाँ औद्योगिक मजदूर वर्ग लगभग नहीं के बराबर था; वहाँ जो क्रांति हुई वह पूरी तरह किसानों की क्रांति थी। इससे मार्क्स की इस आशा और भविष्यवाणी पर प्रश्नचिन्ह लग गया कि औद्योगिक मजदूर सर्वहारा (प्रोलेतरियत) होंगे और क्रांति के अग्रिम दस्ते की भूमिका निबाहेंगे।

(3) दुनिया भर में संगठित और औद्योगिक मजदूरों के आंदोलन (ट्रेड यूनियन) सारा जोर वेतन बढ़ाने पर देने के कारण एक प्रकार के आर्थिकवाद (इकोनोमिज्म) के शिकार होकर क्रांतिकारी परिवर्तन के प्रति उदासीन होते गए जिससे उनकी क्रांतिकारी ऊर्जा मंद पड़ती गई। विकसित देशों में अधिकतर देशों में औद्योगिक मजदूरों की मजदूरी और वेतन बाकी आबादी से अधिक होता था। औद्योगिक मजदूर ऐसी हालत में अपने को विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग जैसा अनुभव करने लगे और उनको गरीब जनता से तादात्म्य का एहसास नहीं होता था। धनी और गरीब दोनों ही देशों में एक प्रकार के 'आभिजात्य मजदूर' वर्ग का धीरे-धीरे विकास होता गया। मार्क्स और एंगेल्स का नारा 'दुनिया भर के मजदूर एक हों' काम नहीं आया; मजदूरों की एकता का सपना, सपना ही बना रहा। मार्क्स और एंगेल्स के नारे को नए संदर्भ में पुनर्परिभाषित करने और नए ढंग से सूत्रबद्ध करने की जरूरत है।

(4) सर्वहारा की तानाशाही की अवधारणा एक भ्रामक और खतरनाक अवधारणा साबित हुई है, जिसने अंततः समाजवाद विरोधी और अवसरवादी तत्वों की ही मदद की है। यह अवधारणा इस गलत धारणा से उपजी थी कि सिर्फ औद्योगिक मजदूर ही क्रांति का नेतृत्व कर सकते हैं; किसानों और कारीगरों (दस्तकारों) का वर्ग चूँकि उत्पादन के साधनों से पूरी तरह जुदा (अलग) नहीं है, इसलिए उसमें क्रांति विरोधी प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं सो क्रांति के प्रति उसका रुझान बढ़ाने के लिए अनुशासित करना जरूरी हो सकता है। ऐसी गलत अवधारणा के चलते सोवियत यूनियन में स्टालिन के जमाने में किसानों पर भयंकर अत्याचार हुआ। सोवियत यूनियन और चीन के शासक जिस प्रकार का औद्योगीकरण और सैन्यीकरण (शस्त्रों का भंडार बनाना, शस्त्रों पर ज्यादा से ज्यादा पैसा खरचना आदि) चाहते थे, उसके लिए अत्यधिक पूँजी संचय करना और संसाधनों को बड़ी मात्रा में जुटाना आवश्यक था। इसके लिए जिस भारी मात्रा में औद्योगीकरण और सैन्य बल की जरूरत थी, वह तानाशाही और सत्ता के केन्द्रीकरण के बिना असंभव थी। इसीलिए रूस और चीन में तानाशाहियों का चलन हुआ। यहाँ एक और बात पर ध्यान देना चाहिए और वह यह है कि हिंसक क्रांतियों ने हमेशा किसी न किसी प्रकार की तानाशाही को जन्म दिया है। हिंसक क्रांतियों के बाद लोकतंत्र की स्थापना नहीं की जा सकती।

(5) पूँजीवाद की सारी बुराइयों की जड़ निजी स्वामित्व (मिल्कियत) में देखी जाती है; लेकिन कम्युनिस्ट देशों में निजी स्वामित्व का उन्मूलन कर देने पर जिन बुराइयों के नष्ट हो जाने की कल्पना की जाती थी, वे कहाँ नष्ट हो पाई? एक समतामूलक समाज की स्थापना के लिए निजी स्वामित्व का उन्मूलन पर्याप्त नहीं है। रुस और चीन के शासकों के दिलोदिमाग पर पश्चिमी पूँजीवादी देशों में जिस तरह का विकास हुआ, उस विकास के प्रति आकर्षण बना रहा। यही नहीं, इसके साथ आम लोगों में उपभोक्तावादी जीवन-पद्धति के प्रति मोह भी कम्युनिस्ट सरकारों की एक बड़ी कमजोरी रही। निजी स्वामित्व (संस्था) को तो उन्मूलित कर दिया गया, लेकिन सम्पत्ति के प्रति मोह और उपभोग के लिए ललक को समाप्त न किया जा सका। नए प्रकार का सुविधाभोगी वर्ग पैदा हुआ; ऊँच-नीच की नई श्रेणियाँ (हायरारकी) पनपी और पहले से चली आ रही श्रेणियाँ (जैसे पितृ सत्तात्मक श्रेणी) पूर्ववत कायम रहीं। इन सबके अलावा ऐसे जातीय व नस्ली विभेद भी उभरे जिनके उभरने की आशंका नहीं रह गई थी।

(6) यूरोप में लोकतांत्रिक समाजवाद (सोशल डेमोक्रेसी) विभिन्न प्रकार के प्रयोग और भारत जैसे देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था का प्रयोग टिकाऊ आधार के अभाव में चलाया न जा सका। समाज और अर्थव्यवस्था का बुनियादी ढाँचा बदले बिना एक 'कल्याणकारी राज्य' (वेलफेयर स्टेट) लोगों की समस्याओं को हल नहीं कर सकता और उसे दीर्घकाल तक टिकाए भी नहीं रखा जा सकता।

(7) तथाकथित 'उन्मुक्त बाजार' व्यवस्था, द्रुत औद्योगीकरण, 'निर्यात अभिमुखी' वृद्धि से उन देशों को जिन्हें नवोदित अर्थव्यवस्थाओं का देश कहा जाता

है, नई-नई समस्याओं और संकटों का सामना करना पड़ा है। इन नवोदित अर्थव्यवस्थाओं वाले देशों में चीन और भारत का नाम ज्यादा लिया जाता है। इन देशों में कुछ समय से प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की समस्या उभरकर आई है। इनमें से बहुत-सी समस्याएँ, जल-जंगल-जमीन या खनिज स्रोतों से जुड़ी हैं और वे स्थानीय, राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बनी हुई है। आज दुनिया के बड़े संघर्ष प्राकृतिक संसाधनों को हथियाने से जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए यहाँ विश्व व्यापार संगठन के गतिरोध की चर्चा की जा सकती है जो मुख्यतया कृषि से जुड़ा हुआ है। ईराक, अफगानिस्तान और ईरान के संकटों के पीछे पेट्रोल और प्राकृतिक गैस है। आज मजदूरों की हड़ताल उतनी बड़ी खबर नहीं बनती जितनी कि किसान आंदोलनों, विस्थापन के खिलाफ आंदोलनों, जल, जमीन, तेल और खनिज के दोहन के खिलाफ संघर्षों की खबरें बनती हैं। दुनिया के तापमान में वृद्धि (ग्लोबल वार्मिंग) की पर्यावरण और प्रदूषण की समस्या मौजूदा संकट का सिर्फ एक पहलू है। एक इतनी ही महत्वपूर्ण समस्या उन लोगों पर निरंतर हो रहे आक्रमण की है जिनका जीवन अभी भी पूरी तरह प्रकृति पर निर्भर है। यह बात दीगर है कि इसके बारे में चर्चा नहीं होती क्योंकि सारी चर्चाएं पश्चिम से परिचालित होती हैं।

(8) दूसरे विश्वयुद्ध के बाद उपनिवेशों के स्वाधीन हो जाने से साम्राज्यवाद का अंत नहीं हो गया। अंत होने के बजाय व्यापार, विदेशी सहायता, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बढ़ते वर्चस्व, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक और एशियाई विकास बैंक (और विभिन्न उपमहाद्वीपों में इसी तर्ज के बैंक) के माध्यमों से साम्राज्यवाद अपने नव उपनिवेशवादी रूप में चल रहा है। विश्व व्यापार संगठन सक्रिय रूप से विषमता भरी विश्व व्यवस्था को प्रोत्साहित करता है और पोषण प्रदान करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके मित्र देशों की सैन्य शक्ति को भी यह कारगर ढंग से बढ़ाने में मदद करता है। सोवियत रूस और चीन ने भी अमेरिका के साम्राज्यवादी सैनिक तरीकों का अनुकरण किया है भले ही उन्हें इसमें अमेरिका जैसी सफलता नहीं मिली है।

(9) वैश्वीकरण साम्राज्यवाद का एक नया दौर है। यह पृथ्वी के संसाधनों पर से हर प्रकार के नियंत्रणों को समाप्त कर विश्व-पूँजी का आधिपत्य स्थापित करने का ही दूसरा नाम है। पूँजीवाद श्रम का, शोषण कर पृथ्वी के गर्भ से प्राकृतिक संसाधनों को निकाल कर मुनाफा कमाने का लालच बढ़ता ही जा रहा है, यह कभी अंत होता नहीं दिखाई नहीं पड़ता। ऐसा लगता है कि इस तरह के शोषण के बिना उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। वित्त व्यवस्था का वैश्वीकरण लालच और लोभ को पूरा करने का एक और तरीका और उपाय है।

पूँजीवाद के एकदम हाल के संकट को इस परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। इसे मुख्य रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका और औद्योगिक देशों के आंतरिक संकट के रूप में देखना गलत होगा। कुछ मार्क्सवादी विद्वानों ने इसे संयुक्त राष्ट्र अमरीका और औद्योगिक देशों के आंतरिक संकट के रूप में देखने की अलबत्ता कोशिश की है।

(10) समाजवाद के एकदम नए प्रयोग लाटीनी अमेरिका में हुए है। ये प्रयोग वामपंथ के रूढ़िवादी ढाँचे में फिट नहीं बैठते। इन प्रयोगों ने न निजी संपत्ति के स्वामित्व का उन्मूलन किया है और ना ही बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपने देशों से खदेड़ कर बाहर किया है; लेकिन उन्होंने बहुराष्ट्रीय कंपनियों और बड़े व्यापारिक संगठनों के पर कुतर डाले हैं और उन्हें सही ठिकाने पर पहुँचा दिया है; राष्ट्रीय संसाधनों और महत्वपूर्ण उद्योगों पर सरकारी नियंत्रण बढ़ा दिया है। इन देशों की सरकारों के साथ संगठित क्षेत्र के मजदूरों और मजदूर संगठनों से संबंध में तनाव जरूर पैदा हुआ है। इस तनाव को सरकारों ने असंगठित क्षेत्र के गरीब लोगों पर ज्यादा निर्भर होकर झेलने की कोशिश की है। इन सरकारों ने गरीब लोगों को शिक्षा, स्वास्थ्य, सुविधाएँ और राशन उपलब्ध करने की व्यवस्था पर अपना ध्यान केंद्रित किया है और सेवाओं पर खर्च होने वाली राशि में वृद्धि की है।

विश्लेषणात्मक निहितार्थ और अन्तर्दृष्टि

लाटिनी अमेरिका के देशों ने (तानाशाही के बजाय) लोकशाही (लोकतंत्र) को चुना है और जो सुधार किये हैं उनके प्रति जन-समर्थन को एकजुट किया है। इन देशों में स्थानीय परिषदों और मजदूरों द्वारा प्रबंधन का जिम्मा लेने के महत्वपूर्ण प्रयोग किए जा रहे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका से इन देशों के संबंध तनावपूर्ण हैं, जिसका कारण इनके विपुल प्राकृतिक संसाधनों पर अमेरिका की गिद्ध दृष्टि है। लेकिन पेट्रोल, प्राकृतिक गैस और खनिजों की विपुल संपदा इन देशों के लिए शक्ति के स्रोत के रूप में काम में आई है। क्यूबा के बारे में गौर करने लायक एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात यह है कि सोवियत यूनियन के विघटन के बाद उसे (क्यूबा को) आधुनिक टेक्नोलॉजी और आधुनिक विकास के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलने को बाध्य होना पड़ा, उसने रासायनिक कृषि के स्थान पर जैविक (आरगेनिक) कृषि को अपनाया; ट्रैक्टरों के बदले बैलों से काम लिया। इस परिवर्तन ने क्यूबा की परनिर्भरता को तो कम किया ही, खाद्य के मामले में उसे आत्म-निर्भर बना डाला।

पूँजीवाद की सैद्धांतिक समझ बढ़ाने और उसके संभावित विकल्पों को समझने के लिए यदि हम ऊपर की सारी बातों, घटनाओं, प्रवृत्तियों और गतिविधियों से मिले

सबको के बीच संबंध न बनाएँ, एक को दूसरे से न जोड़ें और फिर समग्र रूप से उनका विश्लेषण न करें तो हम व्यर्थ ही माथापच्ची कर रहे होंगे। हमें यह देखना होगा कि ये मौजूदा सिद्धांतों और अनुमानों को प्रतिबिंबित करते हैं और उनमें क्या गलतियाँ सुधारने की हैं। गांधी, लोहिया, रोजा लक्सेम बर्ग, आंद्रे गुंडर फ्रैंक जैसे चिंतक इनमें गलतियाँ सुधारने के संकेत दे चुके हैं और हाल में सच्चिदानन्द सिन्हा, किशन पटनायक और बगाराम तुलपुले जैसे भारतीय समाजवादी चिंतकों ने उन संकेतों पर फिर से बल दिया है। 21वीं सदी में समाजवाद का नया स्वप्न और आदर्श, ऊपर हमने जो विश्लेषण किया, उसके आधार पर और हमारी समझ को लगातार बढ़ाते रहने पर ही प्राप्त किया जा सकता है।

(एक) (समाजवाद की अवधारणा के बारे में) हमारी गलतफहमी का एक बड़ा कारण पूँजीपति मालिकों द्वारा कारखानों के मजदूरों के शोषण करने और उसे अधिशेष (सरप्लस) मूल्य (वैल्यू) का मुख्य स्रोत मानना रहा है। यह कुछ महाभारत में अर्जुन के अन्य सब चीजों को न देखते हुए केवल अपने लक्ष्य पर ध्यान केंद्रित करने की कथा जैसा है। पूँजीवाद की वास्तविक ऊर्जा और गति (डायनैमिक्स) इतनी सरल और सीधी कभी नहीं रही। अधिशेष मूल्य के एक बड़े स्रोत की ओर डॉ0 लोहिया ने हमें ध्यान दिलाया है; इस स्रोत को उपनिवेशों के मजदूरों और किसानों के शोषण के रूप में उन्होंने चिन्हित किया। इस शोषण के कारण औद्योगिक देशों के मजदूरों को अधिशेष का एक हिस्सा, भले ही वह बहुत कम रहा हो, मिल सका और इस कारण औद्योगिक देशों में मजदूरों और पूँजीपतियों के बीच संघर्ष को अनिश्चित काल तक टालना संभव हो पाया। इसलिए औद्योगिक व धनी देशों में क्रांति नहीं हो पाई। इन देशों में एक अभिजात्य मजदूर वर्ग के उदय के पीछे भी उपनिवेशों से प्राप्त अधिशेष था। मार्क्स ने उपनिवेशों से की जाने वाली लूट पर विस्तार से चर्चा तो जरूर की है, लेकिन उसने अपने विश्लेषण में इसको धनी और औद्योगिक देश के मजदूरों को मिलने वाले लाभ से नहीं जोड़ा है। मार्क्स की निगाह में यह (उपनिवेशों से प्राप्त अधिशेष मूल्य) पूँजीवाद से निकलने वाला एक परिणाम था, उसका (पूँजीवाद का) एक अंतर्भूत (इंटीग्रल) और आवश्यक अंग नहीं था। मार्क्स की एक अनुयायी रोजा लक्सेम-बर्ग ने (मार्क्स के सोच की) इस कमी और खामी की ओर ध्यान दिलाने की अलबत्ता कोशिश की, लेकिन मार्क्सवादी बौद्धिकों के बीच ज्यादातर उनका तिरस्कार ही किया जाता रहा और वह किनारे पर ढकेल दी गईं। पॉल स्वीजी जैसे बहुत से मार्क्स के अनुयायी अब भी यह मानते हैं कि पूँजीवाद को ऊर्जा और गति मुख्य रूप से पूँजीवादी समाजों के भीतर होने वाले मजदूरों के शोषण से मिलती है, लेकिन मुख्य धारा से बाहर छिटके हुए ऐन्द्रे गुंडर फ्रैंक जैसे मार्क्सवादी अर्थशास्त्री इस प्रकार के रूढ़िवाद का विरोध करते हैं।

(दो) अधिशेष मूल्य और पूँजी संचय का एक स्रोत प्रकृति है। मार्क्स ने यह स्वीकार तो किया है, लेकिन इसे महत्व नहीं दिया है। एकदम शुरू से ही पूँजीवाद का उदय प्रकृति और प्राकृतिक संसाधनों की बड़े पैमाने पर लूट और उसके विध्वंस से जुड़ा हुआ है। वे लोग, जिनका जीवन प्रकृति से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, पूँजीवाद के उदय के साथ एकदम शुरू से ही विस्थापित और वंचित होते आए हैं। मार्क्स ने इस बात को कहा भी है लेकिन इसे 'पूँजी के प्राचीन (आदिम, जो आधुनिक नहीं है) संचय' (प्रीमिटिव ऐक्युमलेशन) के रूप में देखा है। मार्क्स का प्राचीन शब्द का इस्तेमाल सारी गड़बड़ी पैदा करता है। 'प्राचीन' (आदिम, जो आधुनिक नहीं है) विशेषण भ्रामक है। दुनिया के किसी हिस्से में विस्थापन और लूट की प्रक्रिया पूँजीवाद के इतिहास के प्रारंभ से ही चली आ रही है। यह कोई प्राचीन या प्रारंभिक प्रक्रिया नहीं है। यह अभी भी चल रही है। पूँजीवाद इससे पलता है। इसके बिना वह फल-फूल नहीं सकता, जीवित तक नहीं रह सकता। कुछ विद्वानों ने यह बताने की भी कोशिश की है कि पूँजीवाद के इतिहास में अधिशेष प्राप्त (निकालने) करने के मुख्य तरीकों में मुनाफे के बजाय किराए (रेंट) के विभिन्न रूप रहे हैं, लेकिन इस बात से इनकार करना असंभव है कि बाजार के आवरण के पीछे हमेशा बल प्रयोग, नृशंसता, प्रभुत्व और राज्य की मदद से हासिल एकाधिकार (मोनोपोली) जैसी प्रवृत्तियाँ रही हैं।

मार्क्स ने मूल्य में श्रम का जो सिद्धांत (लेबर थ्योरी आफ वैल्यू) प्रतिपादित किया, उसमें उसने प्रकृति और प्राकृतिक संसाधनों की भूमिका को नजरअंदाज किया। मार्क्स का यह प्रतिपादन तो एकदम सही है कि मूल्य और संपत्ति के निर्माण में श्रम की बड़ी भूमिका है, लेकिन वह प्रकृति के योगदान का आकलन नहीं करता। यहाँ इस बात की ओर भी हमारा ध्यान जाता है कि अगर हम मूल्य में श्रम (लेबर थ्योरी आफ वैल्यू) के सिद्धांत को ब्रह्म वाक्य मान लें तो फिर मौजूदा पर्यावरणीय संकट को कैसे समझेंगे।

(तीन) शोषण और आधिपत्य (प्रभुत्व) के पितृ सत्ता, नस्ल, भारतीय जाति प्रथा जैसे कई रूप हैं जो वर्ग और औपनिवेशिक शोषण की मिल-जुलकर सहायता करते हैं। उदारवादी विचारकों व नेताओं और मार्क्सवादियों दोनों ने ही यह आशा की थी कि पूँजीवाद, औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण के बढ़ने के साथ जाति-प्रथा, एक सामंती व्यवस्था होने की वजह से धीरे-धीरे खत्म होती हुई पूरी तरह समाप्त हो जाएगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। जाति, वर्ग और पित-सत्ता इस तरह एक-दूसरे

से घुले-मिले हैं और एक-दूसरे को मजबूत करते रहते हैं कि उनमें से किसी एक को मुख्य मानना और दूसरों को ऊपरी-ऊपरी (सुपर स्ट्रक्चर) मानना बहुत गलत होगा। इन सबों के साथ लड़ना हो तो साथ-साथ मिलकर लड़ना जरूरी है। यही नहीं यूरोपीय इतिहास में किये गए वर्गीकरणों (जैसे सामंतवाद) को बाकी दुनिया पर बिना सोचे-विचारे लागू करने से गलत धारणाएँ बनेंगी, गलत उम्मीदें पैदा होंगी और गलत निष्कर्ष निकलेंगे।

(चार) लेनिन का यह दावा कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद का सर्वोच्च और अंतिम चरण है, एकदम गलत है। यह सर्वोच्च और अंतिम चरण के विपरीत प्रथम चरण है जो उसके विकास के लिए एकदम जरूरी है। मौजूदा पूँजीवादी औद्योगीकरण, औपनिवेशिक और नव औपनिवेशिक शोषण के बिना नहीं हुआ और ना ही हो सकता है। इसलिए गरीब देशों के लिए आधुनिक औद्योगीकरण को अपनाना संभव नहीं, बशर्ते कि वे भी अपना साम्राज्य स्थापित करें। चीन ने आज आधुनिक औद्योगीकरण अपनाया है तो वह अपना साम्राज्य भी स्थापित करने की चेष्टा कर रहा है।

जिस दुनिया में औद्योगीकरण नहीं हुआ है, उसमें पश्चिमी देशों की तरह के औद्योगीकरण और विकास का रास्ता अपनाना निरर्थक होगा। इससे इस रास्ते के अंतर्विरोध प्रकट होने के साथ नए संकट पैदा होंगे। आधुनिक औद्योगीकरण के लिए औपनिवेशिक शोषण इतना ज्यादा जरूरी है कि उसको बाहरी उपनिवेशों के शोषण के बिना अपनाने के प्रयत्नों का नतीजा यह होता है कि देश के भीतर आंतरिक उपनिवेश पैदा करने होते हैं। ये आंतरिक उपनिवेश भी (औद्योगीकरण और आधुनिक विकास के लिए) पर्याप्त नहीं होते। इसके लिए विश्व स्तर पर औपनिवेशिक और नवऔपनिवेशिक शोषण आवश्यक होता है। अगर प्रत्यक्ष रूप से औपनिवेशिक और नव औपनिवेशिक शोषण संभव न हो तो कम से कम उस शोषण का कुछ हिस्सा प्राप्त करना पड़ता है। आंतरिक उपनिवेश एक सीमित स्तर तक ही औद्योगीकरण कर गरीबी, भूख और बेरोजगारी के महासमुद्र में विकास और समृद्धि के मुट्ठी भर द्वीपों को जन्म दे सकता है।

आंतरिक उपनिवेश तरह-तरह के हो सकते हैं। यह जरूरी नहीं कि उनकी कोई भौगोलिक सीमा हो—पिछड़े और आदिवासी क्षेत्र, ग्रामांचल, कृषि-क्षेत्र, अन्य बुनियादी (प्राइमरी) आवश्यकताओं का क्षेत्र, असंगठित क्षेत्र, ये सब आंतरिक उपनिवेश हो सकते हैं। इन सबका आधुनिक शहरी, औद्योगिक क्षेत्र से जो रिश्ता होता है वह औपनिवेशिक होता है। आंतरिक उपनिवेश की वास्तविकता और उसकी अवधारणा, आज के बहुत सारे क्षेत्रीय, जातीय और आदिवासी संघर्षों व आंदोलनों के चरित्र को समझने में हमें मदद करती है।

पूँजीवाद और उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद का एक-दूसरे को पुष्ट करता रिश्ता प्रकारांतर से हमें यह भी बताता है कि पूँजीवाद कोई अलग-थलग स्थिति में किसी एक देश की सीमाओं के भीतर पनप नहीं सकता उसे एक अलग स्वाधीन सत्ता के रूप में देखना बहुत गलत होगा। गुंडर फ्रैंक की शब्दावली उधार लेकर कहें तो हम यह कहेंगे कि दुनिया में किसी भी हिस्से (क्षेत्र) का 'विकास' दुनिया के बहुत बड़े हिस्से के अल्प विकास (अंडर डेवलपमेंट) से अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। हाशिए पर पड़ा कोई 'अल्प विकसित' देश तब तक वास्तव में विकास नहीं कर सकता, जब तक कि वह अपने को पूँजीवादी, साम्राज्यवादी रिश्ते से मुक्त नहीं करता; जब तक वह यह रिश्ता नहीं तोड़ता तब तक वास्तव में वह विकास नहीं कर सकता।

(पाँच) आधुनिक अर्थशास्त्र हमें यह बताता है कि औद्योगीकरण के लिए पूँजी और टेक्नोलॉजी की आवश्यकता होती है। कभी-कभी आवश्यकता के रूप में उद्यमशीलता (एंट्रेप्रेन्यूरशिप) को भी एक कारक के रूप में गिनाया जाता है (या जोड़ा जाता है)। गरीब देशों में इनका अभाव रहता है सो वे पिछड़े रह जाते हैं। विदेशी पूँजी और टेक्नोलॉजी को नियंत्रित करने से यह कमी दूर की जा सकती है या यह खाई पाटी जा सकती है। लेकिन इतिहास हमें क्या बताता है? इन उपायों से भी बहुत से देशों को औद्योगिक समाज वाले देश में रूपांतरित (बदला) नहीं किया जा सका। अब समस्याओं और संघर्षों के बढ़ने से हम यह जान पाएँ हैं कि औद्योगीकरण के लिए जमीन, जल, खनिज और ऊर्जा के स्रोत की बड़े पैमाने पर जरूरत होती है। पहले इन जरूरतों पर हमारी निगाह नहीं पड़ी तो उसका कारण यह था कि औद्योगीकरण के दुष्प्रभाव औद्योगिक देशों के बाहर ही प्रकट होते थे। उनसे औद्योगीकरण का रिश्ता दूरी के कारण अस्पष्ट था।

वास्तव में आधुनिक औद्योगीकरण के लिए कई चीजें जरूरी हैं—(1) सस्ती कीमत व दरों पर कच्चे माल की सप्लाई, (2) मुफ्त या लगभग मुफ्त दर पर जमीन, जल, खनिज और ऊर्जा की उपलब्धि, (3) मजदूरी-वेतन को कम रखने के लिए सस्ते अनाज का होना, (4) पहले के शोषण से उत्पन्न विशाल जमा पूँजी और संसाधनों का हस्तांतरण, (5) उत्पादित माल के लिए बढ़ता हुआ बाजार। इनमें से बहुत सारी आवश्यकताएँ एक अकेले देश की सीमाओं के भीतर पूरी नहीं हो सकतीं।

इन आवश्यकताओं को बाजार तंत्र (बाजार की ताकत, उसकी प्रक्रियाएँ आदि मार्केट मेकानिज्म) से संपूर्ण रूप से पूरा नहीं किया जा सकता, यद्यपि व्यापार की शर्तों को अनुकूल बनाकर उन्हें पूरा करने की कोशिश की जाती है। राज्य सहूलियतें प्रदान कर अनुदान देकर और कभी-कभी तो पुलिस और सेना तक की मदद से

औद्योगीकरण को सुगम बनाने में योग देता है। इंग्लैण्ड के 16वीं और 17वीं सदियों में खेतों और चरागाहों को बाड़ों में बंद करने (इनक्लोजर) के विरोध में होने वाले आंदोलनों की चर्चा करते हुए मार्क्स ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया था कि किसानों और कच्चे माल के अन्य उत्पादकों के विस्थापन से उद्योगों के दो हित सधते हैं—एक तरफ जमीन और कच्चा माल उपलब्ध होते हैं तो दूसरी तरफ बेरोजगार लोगों (किसानी से वंचित किए गए लोगों) की संख्या बढ़ाकर सस्ते मजदूर। इन कारणों के चलते आधुनिक औद्योगीकरण अनिवार्य रूप से औपनिवेशिक (या नव उपनिवेशवादी या आंतरिक उपनिवेशवादी) प्रभुत्व और शोषण से जुड़ा हुआ है।

(सात) बेरोजगारी दूर कर रोजगार के अवसर उपलब्ध करने के लिए आधुनिक औद्योगीकरण को जरूरी बताया जाता है। गांधीवादियों और कुछ लोहियापंथियों को छोड़कर विभिन्न राजनीतिक दलों और विचारधाराओं की आधुनिक औद्योगीकरण में आस्था है। आज से, अर्द्धशताब्दी पहले एक पश्चिमी अर्थशास्त्री आर्थर डब्लू लेविस ने एक मॉडल पेश किया था, जो अभी भी पश्चिम के आर्थिक विमर्श पर हावी है। इस मॉडल में यह माना गया था कि आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र विकसित होगा तो वह कृषि क्षेत्र के अतिरिक्त (सरप्लस) मजदूरों को अपने में खपा लेगा। लेकिन यह मॉडल इस ऐतिहासिक तथ्य की अनदेखी करता है कि आधुनिक औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने की गरज से ही दुनिया के अन्य देशों में परंपरागत पेशों और देहाती व कुटीर उद्योगों का खात्मा कर कृषि के क्षेत्र में अतिरिक्त (सरप्लस) मजदूरों की संख्या (बेरोजगारों) बढ़ी। आधुनिक उद्योग रोजगार पैदा करना तो दूर, रोजगार नष्ट करते हैं। बढ़ते हुए मशीनीकरण, स्वचालन (आटोमेशन) और उद्योगों के आधुनिकीकरण से यह अब और अधिक स्पष्टता से दिखाई पड़ने लगा है।

यह बात भी ध्यान में रखने की है कि औद्योगिक क्रांति के दिनों में भी पश्चिमी यूरोप की रोजगार समस्या का हल नहीं हो पाया था। यह समस्या तो यूरोपीय लोगों के नई दुनिया (न्यू वर्ल्ड) और अन्य उपनिवेशों में जाकर बड़े पैमाने से बसने से हल हुई। पचास साल से भी अधिक अवधि का औद्योगीकरण देश के काम करने में सक्षम 6 प्रतिशत से अधिक लोगों को संगठित क्षेत्रों में रोजगार उपलब्ध नहीं करवा पाया है। देश की आबादी के एक खासे हिस्से को उद्योगों में सम्मानजनक रोजगार उपलब्ध करवाने में आधुनिक औद्योगीकरण को कितना समय लगेगा? क्या आधुनिक औद्योगीकरण एक मरीचिका नहीं है? क्या यह एक आधुनिक अंधविश्वास नहीं है?

(आठ) टेक्नोलॉजी के संबंध में भी इसी तरह का अंधविश्वास दिखाई पड़ता है। यह मान लिया गया है कि पश्चिमी पूँजीवादी देशों में जिन टेक्नोलॉजियों का विकास हुआ है वे सारी दुनिया के लिए उपयुक्त हैं; बस! हरेक आदमी को उसकी नकल करने और अपनाने की जरूरत है। आधुनिक टेक्नोलॉजी और औद्योगीकरण को एक प्रकार की दैवी शक्ति मान लिया गया है, जिसे दुनिया में हर जगह आजमाया जा सकता है। यह कहा जाता है कि हर देश को पहले पूँजीवाद और पश्चिमी तर्ज के विकास की प्रक्रिया से गुजरना होगा; इस प्रकार गुजरने से 'उत्पादक शक्तियाँ' विकसित होंगी और तब (सिर्फ तभी) समाजवादी रूपांतरण हो सकेगा। इसका मतलब यह निकलता है कि पूँजीवाद एक प्रगतिशील कदम है जो देश को आगे ले जाएगा। यह तर्क दिया जाता है कि विकास के इस चरण से गुजरे बिना समाजवाद में पदार्पण संभव नहीं है, रूस और चीन जैसे देशों को जिन्हें कम्युनिज्म के इस तरह के औद्योगीकरण के चरण से गुजरना पड़ा है। दुनिया के बाकी हिस्सों को भी इसी यूरोपीय अनुभव को दुहराना होगा। इस विश्वास के पीछे एक प्रकार का ऐतिहासिक नियतिवाद (हिस्टारिकल डिटरमिनिज्म) काम करता है, जिस पर पुनर्विचार करना और दुरुस्त करना जरूरी है।

(नौ) समाजवाद के सोवियत और चीनी प्रयोगों की असफलता का कारण पश्चिमी आधुनिक टेक्नोलॉजी, आधुनिक औद्योगीकरण और आधुनिक विकास के प्रति अंधमोह रहा है। आधुनिक विकास का समता और अन्य समाजवादी आदर्शों से विरोध है, यह अंतर्विरोध ही सोवियत यूनियन और चीन में समाजवादी प्रयोग की असफलता के लिए मुख्य रूप से जिम्मेवार है। असफलता के कारणों की समीक्षा करते हुए अधिकतर विद्वानों ने तानाशाही-व्यवस्था, अत्यधिक सख्ती वाली एकरूपता (रेजिमेंटेशन), नौकरशाहों-मैनेजरों-पार्टी के अधिकारियों को दोषी ठहराया है, लेकिन असफलता के असली कारण ये नहीं है, ये तो उसके गंभीर रोग के लक्षण मात्र हैं जिसने अपने मोह पाश में सोवियत यूनियन और चीन के कम्युनिस्ट नेताओं को जकड़ रखा था। यह गंभीर रोग आधुनिक विकास और आधुनिक जीवन-पद्धति के प्रति आसक्ति और उससे उपजे मोह के कारण पैदा हुआ। आधुनिक विकास और आधुनिक जीवन पद्धति को आबादी के एक काफी बड़े हिस्से का दमन और शोषण किए बिना उपलब्ध नहीं किया जा सकता था। इसके लिए स्टालिनवाद काम आया—लाखों रूसी किसान, जो कल तक क्रांति में साझीदार थे, मार डाले गए, अपने खेतों और घरों से बेदखल कर दिए गए और जिन्हें साइबेरिया या अन्य स्थानों में खानों, ट्रेनों (रेलों) और कारखानों में जबरन काम करने के लिए भेजा गया, क्योंकि वे अपने उत्पाद को सस्ती कीमतों पर बेच कर लेवी देने के लिए राजी नहीं हो रहे थे। इस तरह की त्रासद स्थितियों का पैदा होना आधुनिक विकास में चाहे वह पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत हो या कम्युनिस्ट

व्यवस्था के, अंतर्निहित है। आधुनिक औद्योगिक समाज में मजदूरों में काम के प्रति अरूचि और विलगाव की भावना का होना, पदानुक्रमता (हायरारकी) और सत्ता का केन्द्रीकरण होना लाजिमी है क्योंकि ये उसमें अंतर्निहित है। इन बुराइयों को मिटाने की किसी भी कोशिश को वैकल्पिक किस्म के औद्योगीकरण और विकास का मार्ग तलाशना होगा।

(दस) लोकतंत्र और समाजवाद सहोदर हैं, वे दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते; वे एक-दूसरे के परिपूरक है; एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं। 'लोकतांत्रिक समाजवाद' एक अजूबा पद है; समाजवाद के साथ लोकतांत्रिक विशेषण को जोड़ना एकदम अनावश्यक है क्योंकि समाजवाद अलोकतांत्रिक (लोकतंत्र विरोधी) हो ही नहीं सकता। असली समाजवाद में लोकतंत्र अंतर्निहित है। सोवियत यूनियन और चीन के शासनों से, जहाँ लोकतंत्र नहीं है, समाजवाद का फरक करने के लिए 'लोकतांत्रिक समाजवाद' पद का शायद इस्तेमाल किया जाता है। अब तो यह एकदम जाहिर हो गया है कि सोवियत यूनियन और चीन में न समाजवाद आया और ना ही लोकतंत्र।

(ग्यारह) लोकतंत्र और समाजवाद को मूर्तरूप प्रदान करने और वास्तविक बनाने के लिए आर्थिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में सत्ता का विकेन्द्रीकरण परम आवश्यक है। छोटा (स्मॉल) केवल सुंदर ही नहीं होता, एक समाजवादी समाज में आर्थिक कार्यकलाप तभी न्यायपूर्ण, व्यावहारिक और टिकाऊ हो सकते हैं जब वे छोटे पैमाने पर हों।

लोकतंत्र को सार्थक बनाने के लिए यह जरूरी है कि वह (लोकतंत्र) एकदम नीचे से शुरू हो, जनता के एकदम निकट हो, जनता अधिकार प्राप्त कर सामर्थ्यवान बने और उसकी सक्रिय भागीदारी हो। हमारे देश के मौजूदा पंचायती राज से जिस व्यवस्था की हम बात कर रहे हैं, उसका कोई मेल नहीं है। हमारे देश में पंचायती राज की जो व्यवस्था चल रही है वह असल में ऊपर के अधिकारियों की सत्ता को कम और नियंत्रित किए बिना नौकरशाही राज का ही विस्तार है।

आर्थिक और सामाजिक कार्य-कलाप में आत्म-निर्भरता के साथ विभिन्न स्तरों पर काम कर रही साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी प्रक्रियाओं के ताने-बाने से विलग करते हुए स्थानीयकरण पर जोर देना आवश्यक होगा। एक बेहतर दुनिया बनाने के लिए विविधता (विभिन्न संस्कृतियों, भाषाओं, परंपराओं और धर्मों ही नहीं जैव-विविधता) का सम्मान करना परम आवश्यक है।

(बारह) आधुनिक सभ्यता ने असीमित वृद्धि, कभी समाप्त न होने वाली 'आवश्यकताओं', उपभोग की पराकाष्ठा और श्रमरहित विलासितापूर्ण जीवन को आदर्श के रूप में महिमामंडित किया है। पूँजीपतियों और कंपनियों ने इस प्रकार के 'आदर्श' को उपभोक्तावादी संस्कृति के मार्फत अपनी बिक्री और मुनाफा बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया है। ध्यान देने की बात यह है कि कम्युनिस्ट शासकों और बुद्धिजीवियों ने इस 'आदर्श' को चुनौती नहीं दी, कभी इसके बारे में शंका तक प्रकट नहीं की। इस 'आदर्श' में कम से कम तीन बड़ी समस्याएँ हैं—एक, सारी मानव-जाति का उपभोग स्तर बहुत ऊँचा नहीं हो सकता। उलटे कुछ लोगों का उपभोग स्तर बढ़ने पर आम लोग विषमता और वंचना के शिकार होते हैं; दो, जहाँ उपभोग का स्तर ऊँचा है और उसे ऊँचा रखा भी जा सकता है, वहाँ जीवन और समाज में सुख नहीं है; एक सुखी और स्वस्थ सामाजिक और व्यक्ति जीवन वहाँ भी मरीचिका है; यही नहीं वहाँ उपभोग के उच्च स्तर के कारण विकृतियाँ पैदा हुई हैं और सामाजिक संकट पनपे हैं; तीन, इससे हमारी पृथ्वी का पर्यावरण विनाश के कगार पर पहुँच गया है। हमारी दुनिया पहली बार कुछ लोगों के लिए विलास के साधन जुटाने के क्रम में संकटग्रस्त और भेद्य हो गई है। अगर दुनिया की सारी आबादी को अमरीका में जीवन में उपभोग का जो स्तर है, वह हासिल करना हो तो हमें कम से कम पाँच पृथ्वियों (या पाँच दुनियाओं) की जरूरत पड़ेगी।

(तेरह) हिंसा और अहिंसा के बीच बहस कभी समाप्त नहीं होने वाली है। यह तर्क के दायरे से बाहर निकलकर आस्था का सवाल बन गई है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि दीर्घकालीन सशस्त्र संघर्ष सफल होने पर केंद्रीकृत तानाशाही शासन को जन्म देता है। इस तरह के शासन का कारण यह है कि लोगों को सैनिक पद्धति से अपने को संगठित करना पड़ता है, जिसमें बहस और मतभेद की गुंजाइश नहीं रह सकती। लोग हमेशा लड़ाई के मध्य में होते हैं, जिसमें सेनापति के आदेश को बिना कोई संदेह या विरोध प्रकट किए मानना जरूरी होता है। महात्मा गांधी ने हमें यह बताया है कि साधन साध्य पर हावी हो जाता है और वह साध्य को प्रभावित और निर्देशित करने लगता है। समाजवाद के लक्ष्य को हासिल करने के लिए अहिंसक उपाय मोटे तौर पर ज्यादा मुफीद और कारगर हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि समाजवाद के लक्ष्य से भटकाव और साथियों की व्यवस्था के साथ जुड़ने की प्रवृत्ति (को-आपशन) के प्रति सतर्कता न बरती जाए। क्रांतिकारिता और हिंसा के बीच घालमेल नहीं होनी चाहिए। अहिंसक आंदोलन भी आमूलचूल परिवर्तनकारी और क्रांतिकारी हो सकते हैं।

समाजवाद का नया चेहरा

अपने अनुभवों और इतिहास से प्राप्त सबकों के कारण अब हम पहले की अपेक्षा ज्यादा स्पष्टता और ज्यादा विश्वसनीय ढंग से देख सकते हैं कि नई सदी में समाजवाद किस प्रकार का होगा, उसका रूप क्या होगा, उसकी क्या छवि होगी। वह निश्चय ही सोवियत यूनियन के राजकीय पूँजीवाद जैसा नहीं होगा। कोई

भी स्टालिन युग की गलतियों और बर्बरता को दुहराना नहीं चाहेगा। यही नहीं वह चीन के बाजारवादी समाजवाद जैसा होगा, जिसमें समाजवादी सिद्धांत गायब हो गए हैं और आधुनिक युग की बुरी से बुरी तानाशाहियों में से एक तानाशाही द्वारा विश्व बाजार का पूरा आनुगत्य स्वीकार कर लिया गया है। यह यूरोप के लोकतांत्रिक समाजवाद (सोशल डेमोक्रेसी) जैसा समाजवाद भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी दुनिया के गरीब और अल्प विकसित हिस्से के लिए कोई प्रासंगिकता नहीं है। एक पूँजीवादी व्यवस्था में समाजवाद सिर्फ राष्ट्रीयकरण करने और सरकारी क्षेत्र स्थापित करने से नहीं आ सकता। हम अपने देश में इनकी असफलता देख चुके हैं।

आज वामपंथियों में से अधिकतर ने समाजवाद के सारे पुराने मॉडल खारिज कर दिए हैं पर वे इस बारे में निश्चित रूप से यह नहीं जानते कि इन मॉडलों में क्या बुराई थी; ये मॉडल क्यों वास्तव में असफल हुए; इनका क्या रोग था। उनको वैकल्पिक मार्ग का भी पता नहीं है; क्या विकल्प हो सकता है, इसके बारे में वे निश्चित नहीं हैं। मिल्कियत और प्रबंधन के क्या रूप हों, इस बारे में काफी बहस मुबाहिसा होता है। यह निश्चय ही महत्वपूर्ण है, लेकिन टेक्नोलॉजी, जीवन-पद्धति और विकास के मॉडल के प्रश्नों की ओर, जो महत्वपूर्ण विषयों और कारणों के रूप में उभरे हैं, ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता। उपनिवेशवाद का प्रश्न भी उपेक्षित है जबकि वह अत्यंत महत्वपूर्ण है। नव उपनिवेशवादी और आंतरिक उपनिवेशवादी से उपनिवेशवाद का प्रश्न जुड़ा हुआ है। इसके पूरे फलितार्थों को समझना आवश्यक है।

यह जाहिर है कि समाजवाद विकास के एक वैकल्पिक मॉडल के आधार पर ही निर्मित हो सकता है। पूँजीवाद के अंतर्गत ऐतिहासिक रूप से उद्योग, टेक्नोलॉजी, जीवन-पद्धति और मूल्यों का जो विकास हुआ है वह बेमानी है। समाजवाद के नए मॉडल में वैकल्पिक उद्योग, टेक्नोलॉजी, जीवन-पद्धति और मूल्यों का विकास आवश्यक होगा। छोटी इकाइयां, ऐसी तकनीकें जिनसे अधिक से अधिक लोग रोजगार प्राप्त कर सकें (लेबर-इंटेंसिव), वैकल्पिक ऊर्जा, स्थानीय प्रबंधन, विविधता के प्रति सम्मान, प्रकृति के साथ संगति (हारमनी) समाजवाद के अनिवार्य अंग होंगे।

कृषि की दयनीय स्थिति और उसके शोषण को समाप्त करने के साथ अन्य प्राथमिक क्षेत्रों के कार्य-कलाप का स्वरूप बदलना आवश्यक होगा। प्रकृति की मदद से ये कार्य-कलाप वास्तव में उत्पादन करते हैं और मूल्य पैदा करते हैं। उद्योग तो सिर्फ उनको नया रूप देते हैं। सेवाएँ तो सिर्फ कृषि और उद्योग द्वारा पैदा किए गए मूल्यों का प्रसार और पुनर्वितरण करती हैं। प्राथमिक कार्य-कलाप को प्रमुख स्थान देने के साथ-साथ हमें जीवंत उद्योगों की भी जरूरत है। अभी ग्रामीण जीवन में कृषि का संपूर्ण आधिपत्य (यानी कृषि पर पूर्ण निर्भरता) एक विकृति है। यह एक औपनिवेशिक विरासत है जो आजादी के बाद भी बनी रही और तेजी से बढ़ती गई। गाँव की आबादी के एक खासे हिस्से को उद्योगों में लगाना होगा। ये उद्योग छोटी इकाइयों वाले उद्योग होंगे, इनमें अधिक लोगों द्वारा काम किया जाएगा और ये मुख्य रूप से गाँवों में ही होंगे—ग्राम आधारित। गाँवों और कस्बों को फिर से विकास के केंद्र बनाने होंगे। गंदी बस्तियों वाले बड़े शहरों को संभालना मुश्किल है—वे काबू के बाहर होते हैं। सिंधु घाटी और माया जैसी अत्यंत विकसित शहरी सभ्यताएँ अपने को टिकाए नहीं रख पाईं और लुप्त हो गईं। अगर हम उनकी जैसी नियति से बचना चाहते हैं तो हमें एक प्रकार के गैर शहरीकरण की योजना बनानी होगी, इसके लिए हमें गाँवों में रोजगार उपलब्ध करना, उनको समृद्ध करना और वहाँ बुनियादी सुविधाएँ मुहैया करना होगा।

दलित और महिला कार्यकर्ता शायद ऊपर कही गई बातों से सहमत न हों। उनका यह डर कि परंपरागत ग्रामीण जीवन में उन्हें कभी समान और सम्मानजनक स्थान प्राप्त नहीं होगा, स्वाभाविक और जायज है। लेकिन दूसरा उपाय क्या है? आजादी के 67 वर्ष और नियोजित विकास के इतने वर्षों के बाद भी दलितों की ज्यादातर आबादी गाँवों में ही रहती है। शहरों में उनकी रिहाइश गंदी बस्तियों में ही है। अगर नौकरियों में आरक्षण की बात को छोड़ दें तो दलितों को कहाँ नौकरी मिल पाती है? उनमें से एक बहुत छोटे से हिस्से को आरक्षण से नौकरियाँ मिली हैं। आजादी के समय शहरों में काफी कारखाने और मिलें थीं जिनमें हजारों मजदूर काम करते थे। मुंबई की कपड़ा मिलों की इस संदर्भ में याद आती है।

यह आशा की जाती थी कि इनकी संख्या बढ़ेगी और इनमें दलितों और शूद्रों को नौकरियाँ मिलेंगी। इससे एक ज्यादा समतापूर्ण वातावरण भी बन पाएगा। लेकिन अब यह आशा नहीं रह गई है। बढ़ते मशीनीकरण के चलते दलित और अन्य पिछड़ी जातियों के लोगों की बड़ी संख्या में सम्मानजनक नौकरियाँ पाने की आशा समाप्त हो गई है। ग्रामीण समाज को बदलने के लिए संघर्ष करने के सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं है। यदि आज अम्बेडकर जीवित होते तो शायद दलितों को गाँव छोड़ने के अपने आह्वान पर पुनर्विचार करते। वे निश्चय ही आधुनिक विकास और वैश्वीकरण का जोरदार विरोध करते, जिन्होंने दलित और शूद्र को काम प्रदान करने वाले ग्रामोद्योगों, दस्तकारी और परंपरागत पेशों को समाप्त कर दिया है।

यह कहने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि एक समाजवादी समाज में गाँवों की वह स्थिति नहीं होगी जो परंपरागत गाँवों में थी। एक नया समाज बनाने का संघर्ष गाँवों को रूपांतरित करेगा, उनमें ऊँच-नीच का भेदभाव कम होगा, ज्यादा समता और ज्यादा स्वतंत्रता होगी।

हर गाँव और उसकी ग्राम सभा को गाँव का प्रशासन चलाने की पूर्ण स्वायत्तता और पूरी क्षमता होगी और दैनन्दिन जीवन के मसलों पर (जैसे जल, जंगल, जमीन का मसला) निर्णय करने का अधिकार होगा। लेकिन इनके साथ नागरिक अधिकारों की कानूनी सुरक्षा के साथ गाँव के प्रत्येक बाशिंदे (खासकर कमजोर वर्ग के लोगों) के मूल अधिकारों की गारंटी होनी चाहिए। केंद्रीय और राज्य सरकारों की अधिकांश सत्ता जिला स्तर पर निर्वाचित सरकार को (ग्राम व नगर परिषदों के प्रतिनिधित्व के साथ) हस्तांतरित की जानी चाहिए। राज्य शायद कभी मुरझा कर खत्म नहीं होगा, लेकिन उसे आमूलचूल रूप से विकेंद्रित और लोकतांत्रिक बनाया जा सकता है; उसकी हैसियत घटाई जा सकती है और उसे जनता के एकदम नजदीक लाया जा सकता है। हमारे देश में अभी जो अप्रत्यक्ष और अधूरा लोकतंत्र है और जिसकी असफलता सर्वत्र दृष्टिगोचर है, उसके स्थान पर प्रत्यक्ष लोकतंत्र लाया जाना चाहिए।

निजी क्षेत्र बनाम सार्वजनिक (सरकारी) क्षेत्र का द्वंद्व, विकास के मॉडल का ध्यान रखें बिना मिटाया नहीं जा सकता। एक तीसरा विकल्प लोक (पीपल्स) क्षेत्र का है, जिसमें मिल्कियत और प्रबंधन जन समुदाय (कम्युनिटी) के अधीन होंगे, लेकिन यह तभी संभव है जब अर्थव्यवस्था का ढांचा विकेंद्रित हो और उपभोक्तावाद प्रेरित करने वाली (लालच और व्यक्तिवादी स्वार्थपरता) प्रवृत्तियों पर सख्ती से प्रतिबंध लगाया जाए।

(क) क्या कदम उठाए जा सकते हैं? बड़ी मिलें-कारखाने (यूनिट) बहुत कम हों और अर्थ-व्यवस्था मुख्य रूप से कुटीर, छोटे और लघु उद्योगों पर आधारित हो, जो इकाइयाँ निजी अधिकार में हो, उनमें एकाधिकार (मोनोपोली) और केंद्रीयकरण की प्रवृत्तियों को कड़ाई के साथ बढ़ने न दिया जाए; आय, वेतन, धन और संपत्ति की एक उच्चतम सीमा कुछ उसी तरह निर्धारित की जा सकती है जिस तरह हमारे देश में कृषि-क्षेत्र में जमीन के जोत की सीमा के संबंध में की गई है।

ऐसे समाज में बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ और हानिकारक विज्ञापनों का निश्चित रूप से कोई स्थान नहीं हो सकता। अगर कहीं बड़ी इकाइयों के बिना काम न चल सकता हो तो वहाँ का प्रबंधन मजदूरों के हाथ में रहना चाहिए और उन पर समाज का समग्र रूप से नियंत्रण रहना चाहिए। इस मामले में लातीनी अमरीका में सह-प्रबंधन और सहकारिता के जो प्रयोग किए जा रहे हैं, उनसे काफी कुछ सीखा जा सकता है।

(ख) कृषि के मामले में सामूहिक (कलेक्टिव) फार्म कायम करना और जमीन पर राज्य (सरकार) की मिल्कियत स्थापित करना उचित नहीं होगा, लेकिन सहकारिता के विभिन्न रूपों को काम में लाना आवश्यक होगा। प्राकृतिक संसाधनों (जमीन को छोड़कर) के सामूहिक उपयोग और उनकी सामूहिक मिल्कियत को प्रोत्साहित करना चाहिए। इस संबंध में जो परंपरागत व्यवस्था है (जो अब संकटापन्न हो गई है) उससे हम काफी कुछ सीख सकते हैं। अनुपस्थित जमीन मालिकों (ऐबसेंटी लैंट ओनरशिप) का ऐसे समाज में कोई स्थान नहीं हो सकता। जो जमीन जोते, जमीन उसकी (होनी चाहिए)। सभी ग्रामीण परिवारों के बीच कृषि भूमि का समान वितरण करना एक मूर्खतापूर्ण कदम होगा, क्योंकि इससे कृषि जोत की जमीनें छोटी हो जाएगी और खेती पोसाएगी नहीं (जिन देशों में आबादी घनी नहीं है और हजारों एकड़ वाले जमींदार हैं वहाँ की अलहदा है)। भारत के ग्रामीण समाज में जो भीषण गैरबराबरी है, जमीन को लेकर जो झगड़े हैं और लोगों का अपनी जमीन से जिस तरह का लगाव है, वहाँ समस्या का हल देहातों में उद्योग स्थापित कर और देहाती आबादी के खासे हिस्से को गैर कृषि कार्यों में खपा कर ही किया जा सकता है।

कम्युनिज्म के अनुभव को देखते हुए हम बाजार-व्यवस्था को पूरी तरह त्याग नहीं सकते। यह आवश्यक भी नहीं है। बाजार रहेगा लेकिन उसकी सत्ता और उसके अधिकारों को छीनना होगा। बाजार को समाज के मालिक नहीं सेवक के रूप में काम करना होगा। वह समाज द्वारा नियंत्रित किया जाएगा और उसके हितों द्वारा निर्देशित होगा। बाजारों को अधिक स्थानीय, सक्षम और समता मूलक होना होगा। दुनिया के गरीब देशों के अंतरराष्ट्रीय व्यापार, विनियोग और वित्त व्यवस्था की मौजूदा शृंखला से, जो वैषम्य, आधिपत्य, शोषण और संकट पैदा करती है और साम्राज्यवाद का एक हथियार है, अपने को मुक्त करना होगा; इस शृंखला को उन्हें तोड़ना होगा। गरीब देशों को अपने बीच व्यापार और सहयोग बढ़ाना होगा। समान देशों के बीच समता के आधार पर विनिमय को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

लेकिन इसके साथ यह बात कभी भी नहीं भूलनी चाहिए कि पानी, शिक्षा और चिकित्सा ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें किसी भी प्रकार के बाजारवाद और व्यापार का प्रवेश पूरी तरह निषिद्ध होना चाहिए। इनमें बाजार को प्रवेश करने देने का सीधा मतलब यह होगा कि गरीब पानी, शिक्षा और चिकित्सा से वंचित रहेंगे और अमीरों को इन क्षेत्रों की सुविधाओं को भोगने की पूरी छूट रहेगी। यह एक अमानुषिक और बर्बर कृत्य होगा। अगर हम आय में एक सीमित असमानता (डॉ0 लोहिया ने अधिकतम और न्यूनतम आय के बीच दस गुना से ज्यादा फर्क न होने की बात कही थी) की बात मान लें तब भी शिक्षा, स्वास्थ्य, खाद्य के मामले में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं रहना चाहिए। इस बात की गारंटी होनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी न्यूनतम बुनियादी आवश्यकताएँ पूरा करने का पूरा अवसर मिले।

समाज और राज्य (सरकार, जिसमें

स्थानीय सरकार भी शामिल है) को यह जिम्मेवारी लेनी चाहिए। इस मामले में क्यूबा हमारा मॉडल (आदर्श) हो सकता है, जहाँ की स्वास्थ्य सेवा दुनिया में सर्वोत्तम है और जहाँ स्वास्थ्य सेवा का पूरा और सारा खर्च सरकार वहन करती है। अगर क्यूबा जैसा एक कम आय वाले छोटे द्वीप वाला राष्ट्र जब इस तरह का कल्याणकारी काम कर सकता है तो दूसरे देश क्यों नहीं कर सकते?

पूँजीवादी व्यवस्था में प्रभुत्व और शोषण के बहुविध स्रोत हैं। इनसे संघर्ष करने के लिए तरह-तरह की विभिन्न शक्तियों को एकजुट होना होगा। असंगठित मजदूरों, किसानों, दस्तकारों, मछुवारों, पशु-पालकों, आदिवासियों, दलितों, रंगीन चमड़ी के लोगों, महिलाओं, फेरीवालों, विस्थापित समुदायों और तरह-तरह की वंचना के शिकार लोगों को एकसाथ मिलकर पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष करना होगा। यह कोई आसान काम नहीं है, लेकिन संघर्ष करने के सिवाय कोई दूसरा उपाय भी नहीं है। संघर्ष करने वालों की विविधता और विभिन्नता के कारण संघर्ष के स्वरूप का लोकतांत्रिक, प्रभुत्व-विरोधी और साझेदारी-प्रवण, मोटे तौर पर अहिंसक होगा और उसका नेतृत्व भी सामूहिक (स्तर पर) होगा।

नई सदी में एक समाजवादी समाज के निर्माण के लिए यह एक मोटी रूपरेखा है, जिसमें कुछ नीति निर्देशक सिद्धांत शामिल हैं। हमारे अतीत के अनुभवों से यह रूपरेखा बनती है। सारे ब्योरों को पहले से तय करना जरूरी नहीं है। संघर्ष और निर्माण के दौरान लोग बहुत सी बातें तय करेंगे। 'स्वाधीनता, समता और भाईचारा' फ्रांसीसी क्रांति का नारा था, जिसने पिछली दो सदियों से क्रांतिकारियों को प्रेरित और अनुप्राणित किया है। अब इस इक्कीसवीं सदी में फ्रांसीसी क्रांति के नारे में विकेंद्रीकरण, विविधता, आत्म-निर्भरता, सरल और सादगीपूर्ण जीवन और अहिंसा को जोड़ने पर नई सदी के समाजवाद की तस्वीर उभरेगी और नई सदी का समाजवाद परिभाषित होगा। ❑

वार्ता के प्रकाशक राजेंद्र बिंदल का निधन

जेपी आंदोलन के सिपाही रह चुके साथी राजेंद्र कुमार बिंदल का तीन सितंबर 2014 की सुबह दिल का दौरा पड़ने से निधन हो गया। वह 61 साल के थे।

राजेंद्र बिंदल पूर्ण रूप से सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता थे। उन्होंने अपनी राजनीति की शुरुआत समाजवादी आंदोलन के साथ 60 के दशक में पटना से की। उस समय किशोरावस्था में वह अपने मामा के घर पर रहते थे। कुछ समय बाद उनका संपर्क समाजवादी नेता किशन पटनायक से हुआ और उसके बाद से बिंदलजी किशन जी, समता संगठन और संगठन की ओर से चलाई जा रही पत्रिका सामयिक वार्ता के साथ जुड़ गए। बिंदल जी का बिहार से विशेष लगाव रहा। वह हमेशा पटना आते जाते रहते थे।

बिंदल जी मूल रूप से मध्य प्रदेश के मंदसौर इलाके के रहनेवाले थे। हालांकि वह काफी समय से दिल्ली में ही बस गए थे। शुरू में उन्होंने यहां कुछ समय व्यवसाय भी किया। लेकिन वह चल नहीं सका। बिंदल जी के परिवार में पत्नी, विवाहित बेटी और बेटा हैं। राजेन्द्र बिदल जमीनी कार्यकर्ता रहे। उनमें अपने प्रति जरा भी अहं नहीं था।

बिंदल जी शुरू से समता संगठन और उसके विलय से गठित समाजवादी जन परिषद में थे। वह सजप की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के भी सदस्य रहे। अगस्त 2013 में उनके विशेष आग्रह से ही समाजवादी जन परिषद की दिल्ली इकाई ने देशी भाषाओं की प्रतिष्ठा के मुद्दे पर उनके तीन दिन के उपवास की घोषणा की थी। इसे जंतर मंतर पर उन्होंने अपने खराब स्वास्थ्य के बावजूद बखूबी निभाया भी।

बिंदल जी अंतिम समय में आम आदमी पार्टी से जुड़ गए थे। लेकिन उनका स्वभाव हमेशा समाजवादी ही बना रहा। वह अंत समय तक चुप रहकर ही काम करनेवाले बने रहे। कभी उन्होंने अग्रिम पंक्ति में आने की इच्छा नही जताई। उनके अंतिम संस्कार में भी इसीलिए बहुत लोगों की उपस्थिति नहीं हो सकी।

—अतुल कुमार

सीसैट विवाद के अनदेखे पहलू

सुयश सुप्रभ

सिविल सेवा परीक्षा में 2011 से लागू हुए सीसैट (सिविल सर्विसेज एप्टीट्यूड टेस्ट–सिविल सेवा अभियोग्यता परीक्षा) के विरोध में जो आंदोलन इस साल उठ खड़ा हुआ है उसमें भारतीय लोकतंत्र में समाज के सभी तबकों की भागीदारी के सवाल से जुड़ा आंदोलन बनने की संभावना मौजूद है। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि इस संभावना को यथार्थ में बदलने की लिए जो इच्छाशक्ति चाहिए, वह अभी हमारे समाज और राजनीति में मौजूद नहीं है; हालाँकि इस मुद्दे पर समाज के प्रगतिशील तबके को संगठित करने के प्रयास को जारी रखने का अपना अलग महत्व है। हाल के दशकों में भाषा के मसले को जिस मज़बूती से इस आंदोलन में सामने रखा गया है उसकी दूसरी मिसाल शायद ही कहीं मिलेगी।

हमारे लोकतंत्र के लिए यह शर्म की बात है कि अपनी भाषाओं को सिविल सेवा परीक्षा में जगह दिलाने की कोशिश कर रहे परीक्षार्थियों को पुलिस की मार झेलनी पड़ती है। दिल्ली के मुखर्जी नगर में भारतीय सीमा की सुरक्षा करने वाले जवानों को तैनात करने के फ़ैसले की पृष्ठभूमि को समझे बिना इस आंदोलन को ठीक से समझना नामुमकिन है। मुखर्जी नगर में लड़कियों पर भी लाठियाँ बरसाई गईं। आंदोलन के इतने हिंसात्मक दमन के कारणों पर बात होनी चाहिए। एक ओर तो भाजपा के संसद सदस्य मनोज तिवारी आंदोलनकारियों को हर तरह के सहयोग का आश्वासन दे रहे थे, वहीं दूसरी ओर मुखर्जी नगर में पुलिस ने ऐसा माहौल बना रखा था कि आंदोलनकारी अपने कमरे से बाहर निकलने से भी डर रहे थे। आखिर ऐसी क्या वजह थी कि श्यामरुद्र पाठक जैसे आंदोलनकारी के नेतृत्व में शांतिपूर्वक प्रदर्शन कर रहे परीक्षार्थियों की आवाज़ को दबाने के लिए सरकार ने साम, दाम, दंड, भेद के तमाम तरीके अपनाए? इस पर बात करने से पहले इस आंदोलन के प्रति सरकार और राजनीतिक दलों के रवैये पर नज़र डालते हैं।

पहले सरकार ने इस आंदोलन की अनदेखी करने की रणनीति अपनाई थी। जब मुखर्जी नगर और आस-पास के इलाकों से सैकड़ों आंदोलनकारी कड़ी धूप में चलकर रेसकोर्स गए तो प्रधानमंत्री ने अपने किसी प्रतिनिधि को उनसे बात करने के लिए नहीं भेजा। बाद में जब कई राजनीतिक दलों के नेताओं ने आंदोनकारियों की माँगों का समर्थन किया तो सरकार ने रक्षात्मक मुद्रा अपना ली। इन नेताओं में आम आदमी पार्टी के योगेंद्र यादव, आनंद कुमार, जनता दल (युनाइटेड) के शरद यादव, राष्ट्रीय जनता दल के पप्पू यादव आदि शामिल हैं। जब जयपुर, इलाहाबाद, चेन्नई, लखनऊ, पटना आदि शहरों से भी धरना-प्रदर्शन की खबरें आने लगीं तो सरकार के पास यह विकल्प भी नहीं बचा कि वह इस आंदोलन को दिल्ली के कुछ कोचिंग संस्थानों द्वारा प्रायोजित होने की बात कहकर इसकी अनदेखी कर सके। श्यामरुद्र पाठक ने इस आंदोलन के प्रायोजित होने की बात का खंडन करते हुए कहा कि पुलिस की लाठी खाते हुए आंदोलन करनेवाले युवाओं पर इस तरह का आरोप लगाना अपने ही देश की युवाशक्ति का अपमान करने के समान है। उन्होंने अपने नेतृत्व में चले आंदोलन में कोचिंग संस्थानों से आर्थिक मदद मिलने की बात से इनकार किया।

आंदोलनकारियों की बड़ी सफलता यह रही कि अगस्त के पहले सप्ताह में संसदीय कार्य मंत्री वेंकैया नायडू को लोक सभा में यह कहना पड़ा कि सरकार सिविल सेवा परीक्षा को आठवीं अनुसूची में शामिल सभी भाषाओं में आयोजित करने पर विचार करेगी। लेकिन सरकार के इस आश्वासन पर भरोसा करना मुश्किल है। इसकी सबसे बड़ी वजह यह है कि इसी सरकार ने आंदोलनकारियों की तमाम माँगों को दरकिनार करते हुए ऐसा कदम उठाया, जिसका सिविल सेवा परीक्षार्थियों के लिए कोई महत्व नहीं है। सरकार ने सीसैट में अंग्रेज़ी के उन आठ सवालों को छोड़ देने का निर्देश जारी किया जिन्हें हटाने की माँग आंदोलनकारियों ने की ही नहीं थी। कोढ़ में खाज यह कि अनुवाद का स्तर इस साल भी इतना खराब था कि प्रतियोगियों का कीमती वक्त सवालों को समझने में ही बरबाद हो गया। इसका फ़ायदा अंग्रेज़ी माध्यम के प्रतियोगियों को ही मिलेगा।

अब सवाल यह उठता है कि आंदोलनकारियों का मनोबल गिराने के लिए सरकार ने ऐसा कदम क्यों उठाया, जिससे आंदोलनकारियों में यह संदेश गया कि सरकार उनकी माँगों का मज़ाक उड़ा रही है। इसका जवाब यह है कि सरकार जिस शोषक वर्ग के हित साधने का साधन बनकर रह गई है, वह वर्ग अंग्रेज़ी के बहाने दशकों से देश के संसाधनों पर अपने एकाधिकार पर किसी तरह की दावेदारी को बर्दाश्त नहीं कर सकता है। यहीं आकर हमें इस आंदोलन के हिंसक दमन का कारण समझ में आता है। शोषक वर्ग को अपने एकाधिकार पर उठने वाली उँगली को मरोड़ने की आदत पड़ चुकी

है और उसे इस बात से अब कोई फ़रक नहीं पड़ता कि वह जिन लोगों का दमन कर रहा है वह मीडिया की सीधी पहुँच से दूर रहनेवाले आदिवासी हैं या दिल्ली में रहकर सिविल सेवा परीक्षा की तैयारी करनेवाले ऐसे लोग, जिन तक मीडिया की आसान पहुँच है। ऐसे समय में प्रगतिशील बुद्धिजीवियों का संगठित होना ज़रूरी है। उन्हें केवल इस आधार पर आंदोलन से दूर रहने का नैतिक कारण नहीं मिल जाता कि अधिकतर आंदोलनकारियों में इस मुद्दे को लोकतंत्र के बड़े मूल्यों से जोड़ने की दृष्टि नहीं है। उन्हें इस आंदोलन को सही नज़रिये से देखने की सलाह देने की ज़िम्मेदारी किस वर्ग की है? क्या यह काम सरकार की तमाम ग़लत नीतियों का समर्थन करने वाला मीडिया करेगा?

सीसैट में अनुवाद की ग़लतियों को सुधारने के लिए सरकार के पास लगभग डेढ़ महीने का समय था। जिन गड़बड़ियों की चर्चा टेलीविज़न चैनलों के स्टुडियो से लेकर संसद में हो रही हो, उन्हें इस साल की परीक्षा में भी नहीं सुधारना असल में एक ऐसी लापरवाही है जिसके लिए संघ लोक सेवा आयोग के अधिकारियों को भी जनता की अदालत के कठघरे में खड़ा करना चाहिए। मीडिया में अनुवाद की ग़लतियों पर तो अच्छी-खासी चर्चा हुई लेकिन भाषा से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों पर बहुत कम लोगों का ध्यान गया। सिविल सेवा परीक्षा में अंग्रेज़ी प्रश्नों के हिंदी अनुवाद में a, b, c, d आदि को हिंदी में न लिखकर अंग्रेज़ी में भी जस का तस छोड़ दिया जाता है। यह एक तरह से हिंदी वर्णमाला के अस्तित्व से इनकार करने के समान है। सालों से ऐसा इस तथ्य के बावजूद किया जा रहा है कि केंद्रीय हिंदी निदेशालय ने 1980 में ही a, b, c, d आदि को हिंदी में क, ख, ग, घ आदि लिखने का नियम बना लिया था। ऐसा इसलिए किया गया था कि हिंदी अनुवाद में कुछ लोग क, ख, ग, घ लिखते हैं तो कुछ अ, आ, इ, ई या अ, ब, स, द। इस नियम की अनदेखी करके हिंदी अनुवाद में भी अंग्रेज़ी वर्णों का प्रयोग भारतीय शासन तंत्र में हिंदी के सूक्ष्म अपमान का उदाहरण है।

सीसैट में ग़ैर-मानविकी विषयों के विद्यार्थियों को अनुचित फ़ायदा मिलने की बात को भी सरकार ने हवा में उड़ाने की कोशिश की। सच तो यही है कि गणित, तर्कशक्ति आदि के सवालों का बेहतर ढंग से जवाब देने के लिए सालों महँगे कोचिंग संस्थानों में तैयारी करनेवाले परीक्षार्थियों की तुलना में मानविकी के विद्यार्थियों को बहुत अधिक मेहनत करनी पड़ती है। वहीं दूसरी ओर, ग़ैर-मानविकी विषयों के विद्यार्थी सामान्य अध्ययन के परचे में बहुत कम अंक लाकर भी सीसैट के दूसरे परचे की मदद से आसानी से मुख्य परीक्षा तक पहुँच जाते हैं। मानविकी से तमाम सरकारों को समस्या होती है। इसके विद्यार्थी सरकार से मुश्किल सवाल करने लगते हैं। जनतांत्रिक मूल्यों के प्रचार-प्रसार में मानविकी से मिलनेवाली समझ और विश्लेषण क्षमता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। लेकिन 2011 के बाद सिविल सेवा परीक्षा में जिस तरह परीक्षार्थियों के सामाजिक ज्ञान की तुलना में प्रबंधकीय योग्यता को बहुत अधिक महत्व दिया जा रहा है उसे देखते हुए ज्ञान की इस शाखा के हाशिये पर जाने की आशंका भी बढ़ रही है। उच्च शिक्षा में मानविकी की लगातार अनदेखी होती आई है। भारत में सिविल सेवा परीक्षा के बहाने मानविकी को महत्व मिलता रहा है। लेकिन अब सीसैट के कारण इसका महत्व और भी कम हो जाएगा। सरकार को अपनी जनविरोधी नीतियाँ लागू करने के लिए कुशल प्रबंधक चाहिए न कि उसकी मंशा पर सवाल करने वाले लोग। यही वजह है कि बड़ी कंपनियों के दबाव में बननेवाली शिक्षा नीतियों में मानविकी को हाशिये पर डालने की कोशिश की जा रही है।

नौकरशाहों का एक वर्ग सीसैट का पक्ष लेते हुए यह तर्क देता है कि इससे उन परीक्षार्थियों को सिविल सेवा से दूर रखने में मदद मिलती है जो अपने सत्तावादी और सांप्रदायिक सोच के कारण लोकतंत्र के लिए खतरा बन सकते हैं। अगर हम यह मान लें कि तर्कशक्ति के मूल्यांकन का इस संदर्भ में महत्व हो सकता है तो भी इन सवालों का आवश्यकता से अधिक संख्या में होने और परीक्षा के अंग्रेज़ी और अबूझ सरकारी हिंदी में होने का सवाल अपनी जगह बना रहेगा। क्या विवेक की भी कोई भाषा होती है? भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में समाज के सभी तबकों को शासन व्यवस्था में शामिल करने के लिए चुने गए प्रतियोगियों को प्रशिक्षण की अवधि के दौरान अंग्रेज़ी में दक्ष बनाया जा सकता है। आठवीं अनुसूची में शामिल सभी भारतीय भाषाओं में परीक्षा आयोजित करना भी असंभव नहीं है। क्या मानविकी के विद्यार्थियों पर गणित और तर्कशक्ति के बहुत-से सवालों का अनावश्यक बोझ डालकर उन्हें परीक्षा की दौड़ में पीछे रहने पर मजबूर करना सही है? क्या स्थानीय समस्याओं को ठीक से समझने के लिए इतिहास, भूगोल, संस्कृति आदि की औसत से बेहतर जानकारी से ज़्यादा महत्वपूर्ण वह गणितीय या तर्कशक्ति योग्यता है, जिसका मूल्यांकन करने का दावा सीसैट के पक्षधर कर रहे हैं? जिस देश में असमान शिक्षा व्यवस्था हो, वहाँ उच्च वर्ग को प्रबंधन या इंजीनियरिंग की महँगी शिक्षा से मिलनेवाली सुविधा को ध्यान में रखकर बनाई गई अलोकतांत्रिक परीक्षा पद्धति पर सवाल उठाना हर ज़िम्मेदार नागरिक का कर्तव्य है। इस सुविधा का अंदाज़ा आप इस तथ्य से लगा सकते हैं कि जहाँ 2010 में मुख्य परीक्षा तक पहुँचने वाले 47.5% प्रतियोगी मानविकी के विद्यार्थी थे वहीं सीसैट लागू होने के बाद 2011 में इनका प्रतिशत घटकर 31.2% रह

गया।

इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता है कि भारत में अंग्रेज़ी केवल आर्थिक उन्नति से जुड़ी भाषा नहीं बल्कि औपनिवेशिकता से भी जुड़ी भाषा भी रही है। इसे सीखने पर किसी को आपत्ति नहीं है, लेकिन इसके आधार पर समाज के कमज़ोर तबकों को शासन व्यवस्था से दूर रखने की साज़िश का विरोध करना हमारा कर्तव्य है। सीसैट के विरोध के दौरान अनुवाद की जिन ग़लतियों पर मीडिया में चर्चा हुई वे शासक वर्ग के भाषाई षड्यंत्र के उदाहरण हैं। हिंदी को अनुवाद की भाषा बनाकर उसे न केवल आम लोगों बल्कि हिंदी भाषा के विद्यार्थियों के लिए भी अनुपयोगी बना दिया गया है। यह हिंदी हाशिये पर रहनेवाले तबकों को आगे बढ़ने का अवसर देने में नाकाम रहती है। इसे ऐसा बनाकर शासक वर्ग हिंदी को कामकाजी तबके के लिए अनुपयोगी साबित कर देता है। हमें सभी भारतीय भाषाओं को ज्ञान की भाषा बनाने का संकल्प लेना चाहिए। ऐसा करना असंभव नहीं है। भारतीय भाषाओं को साहित्य तक सीमित रखने का नुकसान भारतीय लोकतंत्र को उठाना पड़ा है। अंग्रेज़ी को भाषा न मानकर ज्ञान मान लिया गया है। इससे अंग्रेज़ी में कही गई अधकचरी बात भी भारतीय भाषा में व्यक्त की गई सार्थक बात से कमतर साबित हो जाती है।

हमें यह समझना होगा कि भारत में अभी राजनीति जिस दिशा में आगे बढ़ रही है उसमें सरकारी तंत्र बार-बार शासन से ज्यादा प्रबंधन को महत्व देने की बात कह रहा है। ज्ञान की सभी शाखाओं को प्रबंधन की योग्यता से कमतर आँकने की मानसिकता का विरोध करने के लिए अकादमिक जगत को भी आगे आना चाहिए। तमाम असुविधाओं का सामना करके सिविल सेवा परीक्षा की तैयारी कर रहे आंदोलनकारियों को शिक्षकों, लेखकों, आलोचकों आदि का सहयोग मिलना ही चाहिए। यह देखकर अफ़सोस होता है कि प्रगतिशीलता के अनेक नामवरों ने इस मसले पर चुप्पी साधी रखी। लोकतांत्रिक मूल्यों की लड़ाई केवल कहानी, कविता आदि में नहीं लड़ी जा सकती है। इसके लिए सड़क पर पुलिस की लाठियों का सामना कर रहे लोगों के समर्थन में आगे आना पड़ता है। सीसैट में भाषाओं का मसला उन भाषाओं को बोलनेवाले तबकों के लोकतंत्र में प्रतिनिधित्व का मसला है। ❑

वार्ता यहाँ से प्राप्त करें

- ❑ सोमनाथ त्रिपाठी, अनुसंधान परिसर, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-221002, फोन : 09415222940
- ❑ विश्वनाथ बागी, पुटकी कोलियरी, पो. कुसुंडा, जिला-धनबाद, झारखंड-828116, फोन : 09835131638
- ❑ लिंगराज, समता भवन, बरगढ़, ओडिशा-768028, फोन : 09437056029
- ❑ जे.पी.सिंह, जेपी मेडिकल, बेलथरा रोड, जिला-बलिया, उत्तर प्रदेश, फोन : 09454246891
- ❑ अच्युतानंद किशोर नवीन, सत्यसाहित्य, कन्हौली, शारदानगर, पो. आर के आश्रम चैता, मुजफ्फरपुर, बिहार-843116, फोन : 09470268745
- ❑ नवल किशोर प्रसाद, एडवोकेट, छोटा बरियापुर, वार्ड नं. 38, पो. सिविल कोर्ट, थाना छितौनी, मोतीहारी, बिहार-845401, फोन : 08271829617
- ❑ चंद्रभूषण चौधरी, भारती अस्पताल, कोकर चौक, हजारीबाग रोड, रांची, झारखंड-834001, फोन : 09006771916
- ❑ रामजनम, सर्वोदय साहित्य भंडार, प्लेटफार्म नं. 4, वाराणसी कैंट स्टेशन, वाराणसी-221002 फोन : 08765619982
- ❑ अमरेंद्र श्रीवास्तव, पुरानी गुदड़ी, वार्ड नं. 9, थाना-नगर, पो. बेतिया, बिहार-845438, फोन : 09031670370
- ❑ चंचल मुखर्जी, मुखर्जी बुक डिपो, पांडे हवेली, वाराणसी, फोन : 0542-245257
- ❑ शिवजी सिंह, अधिवक्ता, महदीगंज, बलुआ टोला, पो. सासाराम, जिला-रोहतास, बिहार-821115, फोन : 09431846052
- ❑ रमाकांत वर्मा, सेक्टर 3 डी, क्वार्टर नं. 589, बोकारो स्टील सिटी, झारखंड-827003
- ❑ अल्मोड़ा किताबघर, मित्रभवन, गांधी मार्ग, अल्मोड़ा, उत्तराखंड-263601, फोन : 09412092061
- ❑ दिनेश शर्मा, डी 68, ए ब्लाक, खुंटाडीह, सोनारी, जमशेदपुर, झारखंड-831011, फोन : 09431703559
- ❑ इकबाल अभिमन्यु, 28 पेरियार छात्रावास, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, फोन : 09013183889
- ❑ मनोज वर्मा, इहमी कंपाउंड, पो. रामनगर, जिला पश्चिमी चंपारन, बिहार-845106
- ❑ राजेंद्र बिंदल, 252 ई, पाकेट डी, दिलशाद गार्डेन, दिल्ली-110095, फोन : 09266955416
- ❑ रोशनाई प्रकाशन, 212 सी. एल/ए., अशोक मित्र रोड, कांचरापाड़ा, उत्तर 24 परगना, पं.बंगाल-743145, फोन : 033-25850249
- ❑ गोपाल राठी, सांडिया रोड, पिपरिया, जिला-होशंगाबाद, म.प्र. फोन : 09425408801
- ❑ तपन भट्टाचार्य, 201, सुशीला कांपलेक्स, 130, देवी अहिल्या मार्ग, इंदौर-452003, फोन : 09826011413

न्यायिक स्वतंत्रता पर मोदी सरकार का प्रहार

प्योली स्वातिजा

भारतीय न्याय व्यवस्था की एक बहुत बड़ी विडंबना है कि वह जिस रूप में आज मौजूद है वह अंग्रेजों द्वारा खड़ी की गई थी। एक आम भारतीय के साथ न्याय करना इस व्यवस्था का ध्येय नहीं था। उसका मकसद तो 'अपराधी' मूल बाशिंदों को दंडित करना और भारत में रह रहे ब्रिटिश भद्रलोक के बीच के दीवानी मामले सुलटाना था। आज भी अगर यह सवाल किया जाए कि इस न्याय व्यवस्था से कितने प्रतिशत भारतीयों को न्याय मिलता है तो शायद उसका ईमानदार जवाब होगा 1% से भी कम। इस देश की 20% से ज्यादा आबादी वकील करने का माद्दा नहीं रखती–जो 78% प्रतिशत जनता (अर्जुन सेनगुप्ता कमेटी की रपट के अनुसार) रोजाना 20 रुपये से कम में गुजारा करती है वो जाहिर है कि वकील करने में सक्षम नहीं होगी। जो खुद के वकील कर पाते हैं वो अंतिम फैसला आने तक सालों साल अदालतों के धक्के खाते रहते है। न्याय प्रक्रिया इतनी लम्बी, जटिल और महँगी होती है कि अंत आते-आते मुवक्किल आर्थिक और मानसिक रूप से निचुड़ चुका होता है। ऊपर से काफी संभावना रहती है कि आपका सामना भ्रष्ट, जातिवादी, मर्दवादी, साम्प्रदायिक, संभ्रांतवादी अथवा अक्षम जज से हो। इस प्रकार अंततः जिन चंद लोगों को इस न्याय-व्यवस्था में न्याय मिलता है वो जनसंख्या के 1% से भी कम हैं। फिर भी आज तक सरकार या प्रभुत्वशाली वर्गों के द्वारा शोषित लोग थक-हार कर न्यायालयों का ही दरवाजा खटखटाते है, इस उम्मीद के साथ के साथ कि जज की कुर्सी पर बैठा व्यक्ति निष्पक्षता के साथ उनसे न्याय करेगा। वह निष्पक्षता, जो संविधान में निहित है।

वर्तमान सरकार जबसे सत्ता में आई है तब से लगातार जजों से जुड़े कई विवादित फैसले लेती रही है। सबसे पहला था जून महीने में सर्वोच्च न्यायलय के कॉलेजियम (सबसे वरिष्ट जजों की समिति) द्वारा सर्वोच्च न्यायालय में नियुक्ति के लिए प्रस्तावित 4 नामों में से एक वरिष्ठ अधिवक्ता गोपाल सुब्रह्मणियम का नाम अलग कर उसे वापिस भेजना और फिर यह कदम और उसके पीछे के 'कारण' जगजाहिर करवा देना। नाम वापसी को जाहिर करना बहुत ही शातिर कदम था। सरकार जानती थी कि नाम वापस करने के बाद भी यदि कॉलेजियम दोबारा वही नाम भेजे तो कानून उसे स्वीकार करने के अलावा उसके पास और कोई चारा नहीं होता। लेकिन सार्वजनिक रूप से अपनी ईमानदारी पर शक का दाग लगने के बाद गोपाल सुब्रह्मनियम ने पद के लिए अपनी सहमति वापस ले ली। ऐसे में प्रमुख न्यायाधीश न्यायमूर्ति आर.एम.लोधा द्वारा सार्वजनिक तौर पर सरकार के कदम की आलोचना करना और गोपाल सुब्रह्मणियम के समर्थन में आना किसी काम न आया। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय एक निष्पक्ष, संवेदनशील और प्रखर न्यायविद जज से महरूम हो गया। दूसरा था अगस्त महीने में संविधान संशोधन करके और नया कानून ला कर उच्चतर न्यायपालिका की नियुक्ति की प्रक्रिया बदलना। इस पर हम इस लेख में विस्तार से चर्चा करेंगे। और तीसरा था अभी हाल में सेवानिवृत्त हुए प्रमुख न्यायाधीश एस. सदाशिवम को केरल का गवर्नर नियुक्त करना। न्यायिक स्वतंत्रता के संवैधानिक सिद्धांत के परखच्चे उड़ाता यह फैसला न्यायपालिका की गरिमा पर भी बट्टा लगाता है। कई कानूनों में सेवा निवृत्त जजों को विभिन्न कमीशनों का अध्यक्ष या सदस्य बनाने का प्रावधान है और ज्यादातर सरकारें अपने प्रिय जजों को यह लालीपॉप पकड़ाती हैं। लेकिन देश के पिछले प्रमुख न्यायाधीश को गवर्नर जैसा राजनैतिक पद देना तो बहुत ही गंभीर मसला है। न्यायमूर्ति सदाशिवम का यह कहना कि अगर वह गवर्नर नहीं बनते तो उन्हें किसानी करना पड़ता शोचनीय है। इस देश में किसान की हालत इतनी कमजोर है कि सदाशिवम अपने जीवन भर की कमाई और प्रतिष्ठा दाँव पर लगाने को तैयार हैं लेकिन किसानी करने को नहीं। काश कि वे वापस अपने गाँव जा कर खेती करते तो हम भारतीय भी गर्व से दुनिया को कह सकते कि हमारा राष्ट्रपति भले ही उरुग्वे के राष्ट्रपति के जैसा सादा जीवन न जीता हो मगर हमारे देश का प्रमुख न्यायाधीश सेवानिवृत्त हो कर गाँव में एक आम नागरिक की तरह जीवन यापन कर रहा है। यह तीनों फैसले न्यायिक स्वतंत्रता पर करारी चोट हैं, इमरजेंसी के युग की याद दिलाते हैं और केंद्र सरकार के बेशर्म और अधिनायकवादी रवैये के द्योतक हैं। इतिहास गवाह है कि तानाशाह हमेशा देश के संविधान और

जजों को अपने वश में करना चाहता है।

न्यायिक नियुक्ति कमीशन बिल, 2014

पिछले महीने लोकसभा ने सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के जजों की नियुक्ति का यह बिल पारित कर दिया। अब इसका राज्यसभा द्वारा पारित होना और राष्ट्रपति की मुहर लगना बाकी है। माने तय है कि यह बिल कानून बन जाएगा। सरकार चाहती है कि मानसून सत्र में ही यह प्रक्रिया पूरी हो जाए। आखिर पूरे देश पर असर डालने वाले इस कानून को लागू करने में इतनी जल्दीबाजी क्यों? सरकार ने न्यायपालिका को साफ इशारा कर दिया है कि हमारे द्वारा निर्धारित सीमा में रहोगे तो पदोन्नति के साथ साथ कार्यविधि के बाद भी मलाईदार पोस्टिंग मिल सकती है नहीं तो अब तुम्हारा केरियर हम चौपट कर सकते हैं। 1993 के पहले इस देश में उच्चतर न्यायालयों में जजों की नियुक्ति कार्यपालिका के हाथ में होती थी। इसके कारण काफी सारी नियुक्तियाँ राजनीतिक कारणों से प्रेरित होती थीं। आपातकाल के दौरान हमें इसका सबसे वीभत्स रूप देखने को मिला। केशवानंद भारती केस को मनचाहा मोड़ देने के लिए इंदिरा गाँधी ने नियुक्तियाँ कीं। यह बात दीगर है कि अंततः सर्वोच्च न्यायालय ने 7:6 के अनुपात से अपना ऐतिहासिक फैसला सुनाया जिसमें संविधान के मूलभूत ढाँचे के सिद्धांत की नींव पड़ी। इसी ढाँचे में निहित है न्यायिक स्वतंत्रता का सिद्धांत। बाद में हेबिअस कॉर्पस (बंदी प्रत्यक्षीकरण) केस में जब न्यायपालिका सरकार के सामने झुक गई तब एक निर्भीक और निष्पक्ष जज एच.आर. खन्ना, जिन्होंने अपना संवैधानिक दायित्व नहीं छोड़ा और विपक्ष में फैसला दिया, उन्हें प्रमुख न्यायाधीश बनने से हाथ धोना पड़ा, उनसे जूनियर जज को प्रमुख न्यायाधीश बनाया गया और इसके विरोध स्वरूप उन्होंने इस्तीफा दे दिया। 1993 में सर्वोच्च न्यायाधीश ने अपने फैसले से इस नियुक्ति प्रक्रिया में आमूलचूल बदलाव ला दिया। अब सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में नियुक्ति प्रक्रिया पूरी तरह से सर्वोच्च न्यायलय के 5 सबसे वरिष्ठ जजों यानी कॉलेजियम के हाथ में आ गयी। सरकार एक बार कॉलेजियम द्वारा प्रस्तावित नाम वापस भेज सकती है लेकिन उसके बाद अगर दोबारा कॉलेजियम वही नाम भेजे तो राष्ट्रपति को उसपर मुहर लगानी ही पड़ती है। इस प्रक्रिया में पारदर्शिता का पूरा अभाव है। जजों के बेटों-भतीजों की नियुक्तियाँ बेतहाशा होती हैं।न्यायपालिका संभ्रांत वर्ग के पुरुषों का क्लब बन के रह गई है जिसमें औरतों, दलितों और आदिवासियों का प्रतिनिधित्व बहुत ही कम है। सरकारी मनमानी से बचने के लिए बनी यह व्यवस्था पूरी तरह से विफल हो गई है। न्यायाधीश नियुक्ति का नया कानून इन दोनों उपरोक्त प्रणालियों की बुराइयाँ लिए हुए है। संविधान को संशोधित कर एक न्यायाधीश नियुक्ति कमीशन बनाया गया है, जो उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों और प्रमुख न्यायाधीश की नियुक्ति करेगा। इस कमीशन में 6 सदस्य होंगे जिनमें 3 सर्वोच्च न्यायलय के तीन सबसे वरिष्ठ न्यायाधीश, कानून मंत्री और 2 गणमान्य हस्तियाँ होंगी (देश के प्रमुख न्यायाधीश, प्रधानमंत्री और सबसे बड़े विपक्षी दल के नेता द्वारा मनोनीत किये गए)। किसी भी जज को प्रस्तावित करने के लिए 6 में से 5 सदस्यों की सहमति आवश्यक होगी। अगर किन्हीं 2 सदस्यों ने विरोध में मत दिया तो प्रस्ताव वहीं रद्द हो जाएगा। इस प्रकार यदि कानून मंत्री ने यदि एक सदस्य को भी अपने पक्ष में मना लिया तो सरकार की नापसंदगीवाला उम्मीदवार जज नहीं बन पाएगा। इससे भी घातक प्राविधान था सर्वसम्मति का। उसके अनुसार अगर एकबार राष्ट्रपति कोई प्रस्तावित नाम वापस भेज देते हैं तो कमीशन सर्वसम्मति से ही उस नाम को पारित कर पाएगा। इस प्रकार कानून मंत्री को वीटो की शक्ति मिल गयी थी। ऐसा होता वो दिन दूर नहीं था जब न्यायपालिका पूरी तरह सरकार के कब्जे में होती। खैर, विपक्षी दलों ने काफी विरोध कर यह प्रावधान हटवा लिया। वैसे अगर यह प्रावधान बना रहता और कोर्ट के सामने आता तो अवश्य ही गैरसंवैधानिक घोषित होता। लेकिन कानून मंत्री की कमीशन में मौजूदगी ही न्यायपालिका और कार्यपालिका की अलग-अलग सत्ताओं के सिद्धांत की अवमानना है। मनमोहन सिंह सरकार द्वारा 2010 में लाए गए बिल में भी कमीशन में कानून मंत्री को रखने का प्रावधान था। कॉलेजियम प्रणाली की सबसे बड़ी खामी गैरपारदर्शिता इस कानून में बरकरार है, बस उस गैरपारदर्शी प्रणाली में न्यायपालिका के साथ-साथ सरकार को भी घुसा दिया गया है। किसी भी न्यायिक कमीशन में वर्तमान जज और कानून मंत्री नहीं रहने चाहिए। एक और महत्वपूर्ण पहलू है कमीशन के पास समय की कमी। कमीशन को 30 सर्वोच्च न्यायालय के जजों, 1 भारत के प्रमुख न्यायाधीश और 906 उच्च न्यायालय के जज और प्रमुख न्यायाधीशों की नियुक्ति और स्थानान्तरण करने का दायित्व और अधिकार होगा। हमारी न्याय-व्यवस्था पहले से ही रिक्त पदों की समस्या से त्रस्त और ग्रस्त है। उच्च न्यायालयों में करीब 300 पद रिक्त पड़े हैं। नियुक्ति कमीशन को हर साल करीब 1000 अभ्यार्थियों में से करीब 100 जज नियुक्त करने होंगे। ऐसे में इन नियुक्तियों को विश्वसनीय बनाने के लिए ज़रूरी है कि यह कमीशन पूर्णकालिक हो। फिलहाल इस कमीशन के जो सदस्य इस कानून में हैं उन सभी के पास अपने ही इतने काम हैं कि पूरी सम्भावना है कि रिक्त

पदों की समस्या वहीं की वहीं रह जाएगी या फिर जल्दबाजी में नियुक्त हुए जजों से न्यायपालिका के स्तर में और भी गिरावट आएगी।

कैंपेन फॉर ज्यूडिशियल अकाउंटेबिलिटी एंड रिफॉर्म्स नामक समूह जो कई वर्षों से न्याय व्यवस्था में जवाबदेही और मूलभूत सुधारों की माँग उठाता आया है, ने काफी पहले से एक ऐसे पूर्णकालिक कमीशन की माँग रखी है जो जजों की नियुक्ति करेगा और उनके खिलाफ शिकायतें सुनेगा। जजों की बर्खास्तगी (जो फिलहाल बहुत जटिल है) भी उसके हाथ में होगी।कमीशन की नियुक्ति नियन्त्रक एवं महालेखापरीक्षक (सी.ए.जी.),मुख्य सतर्कता आयुक्त (सी.वी.सी.), मुख्य चुनाव आयुक्त सर्वोच्च न्यायालय के 2 वरिष्ठ जज, प्रधान मंत्री और नेता विपक्षी दल की 7 सदस्यीय टीम करेगी। इंग्लैंड, फ्रांस, और न्यू यॉर्क के न्यायिक कमीशनों की तर्ज पर इस कमीशन में भी कम से कम 3 ऐसे जाने-माने ईमानदार व्यक्ति हों जो न्याय व्यवस्था से ताल्लुक न रखते हों। हमारा मानना है कि अगर प्रक्रिया को इतना जटिल न भी किया जाय तो भी भारत के प्रमुख न्यायाधीश, प्रधान मंत्री और सबसे बड़े विपक्षी दल के नेता - इन तीन सदस्यों टीम द्वारा चुने गए एक पूर्णकालिक कमीशन की ज़रूरत है, जिसमें वर्तमान जज या कानून मंत्री न हों। यह कमीशन कोई भी पद खाली होने पर सार्वजनिक घोषणा करे और अभ्यर्थियों की सूची भी घोषित करे। जनता को यह मौका मिले कि वह अभ्यार्थियों के बारे में अपनी आपत्तियाँ दर्ज कर सके जिनको परख कर कमीशन नियुक्तियाँ करे। इसके अलावा नियुक्तियों के ब्लोस और सार्वजनिक पैमाने होने चाहिए। वर्तमान कानून ने न्यायिक कमीशन को यह अधिकार दिया गया है कि वह यह पैमाने निर्धारित करे। कानून की समझ, समय के साथ बदलते कानूनों की जानकारी और ईमानदारी के साथ यह भी बहुत ज़रूरी है कि न्यायाधीश बनने के अभ्यार्थी कमजोर और हाशिये पर खड़े समुदायों के प्रति संवेदनशील हों, समय के साथ बदलते सामाजिक मूल्यों के प्रति संवेदनशील हों मेहनती हों और धैर्यवान भी। कमीशन सुनिश्चित करे कि न्यायालयों में महिलाओं, दलितों, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों और विकलांग व्यक्तियों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व हो। इसके अलावा उच्चतर न्यायालयों के जजों की बर्खास्तगी की प्रक्रिया भी बहुत जटिल है और उसमें भी आमूलचूल बदलाव की ज़रूरत है। न्याय व्यवस्था को और जवाबदेह और सरल बना कर अंतिम औरत तक लाना होगा। लेकिन उस पर फिर कभी और।

(लेखिका सर्वोच्च न्यायालय में वकील हैं संपर्क-07838211548) ❑

मत-विमत

महिमा पैसों की

क्रिकेट की आज क्या हालत है? यह कंपनियों को विज्ञापन करने देने और खिलाड़ियों के अंधाधुंध पैसे कमाने देने का साधन है। जब से आईपीएल लीग और चैंपियन लीग शुरू हुई है तब से क्रिकेट में चियरगर्ल्स के रूप में नग्नता का प्रदर्शन भी शुरू हो गया है। हर खिलाड़ी कहता है कि वह देश के लिए खेलता है, इससे बड़ा झूठ क्या होगा? वह तो पैसों के लिए खेलता है। क्रिकेट खिलाड़ियों की सालाना कमाई अब करोड़ों में होने लगी है। उनकी कमाई के स्रोत रोज बढ़ रहे हैं। देश के पाँच क्रिकेटरों की कमाई की सूची पर जरा नजर दौड़ाएँ—

खिलाड़ी का नाम	कुल आय
महेन्द्र सिंह धोनी	202 करोड़
सचिन तेंडुलकर	133.90 करोड़
विराट कोहली	73.20 करोड़
गौतम गंभीर	48.80 करोड़
वीरेंद्र सहवाग	42.70 करोड़

शराब का विज्ञापन करना मना है, पर महेन्द्र सिंह धोनी सोडे के बहाने खुलेआम शराब का विज्ञापन करते हैं। हमारे क्रिकेट खिलाड़ियों को किसने यह अधिकार दिया है कि वे हमें फलां चीज खरीदने की सलाह दें?

पैसों का लोभ क्रिकेट खिलाड़ियों को इतना है कि उन्होंने अपने कपड़े, जूते, बल्ले तक को विज्ञापन बना दिया है। यदि खिलाड़ी पूँजीपतियों के लिए बाजार बनाता है तो देशभक्त है लेकिन अगर वह अपनी कलाई पर हजारों बेगुनाहों का कत्ल करने के खिलाफ राखी (रिस्ट बैंड) बाँधे तो आईसीसी को यह मंजूर नहीं। इंग्लैण्ड के माइन अली को भारत के खिलाफ तीसरे टेस्ट में अपना रिस्ट बैंड खोलना पड़ा?

मुझे याद आता है 1965 में भारत-पाक युद्ध के समय भारत के क्रिकेट कप्तान मंसूर अली खान पटौदी और पाकिस्तान के कप्तान ने अपनी सरकारों को टेलीग्राम भेजे कि वे युद्ध से विरत रहें और बातचीत कर दोस्ताना हल ढूँढें। महेन्द्र सिंह कप्तान के रूप में मैच हारते जाएं तो भी कप्तान बने रहेंगे। खुदा न खास्ता अगर उन्होंने पटौदी जैसा टेलीग्राम दे दिया तो उन्हें बरखास्त होने में आध घंटे से ज्यादा समय नहीं लगेगा। **–सुनील कुमार, दिल्ली**

शिक्षक दिवस पर प्रधानमंत्री के भाषण पर दो टिप्पणियाँ

एक

नरेन्द्र मोदी के 'गुरू-चेला' संवाद में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली, दिल्ली के बाहर किन इलाकों के बच्चों से रेडीमेड सवाल लिए गए। मणिपुर से लेकर लेह और दंतेवाड़ा तक ऐसे तमाम क्षेत्र जहाँ किसी न किसी किस्म का सामाजिक-राजनीतिक संकट मौजूद है। मणिपुर के छात्र से कहा गया कि 2024 के चुनाव की वह तैयारी करे, क्योंकि 'दस साल' तक तो मोदी सरकार को कोई खतरा नहीं है। याद रखें कि लाल किले से अपने संबोधन में भी 'प्रधान सेवक' ने 'दस साल' तक सफाई करने की बात कही थी। इसे इस परिप्रेक्ष्य में देखें कि संघ की हिंदू राष्ट्र बनाने की तीन चरण वाली रणनीति दस वर्षों की ही है 2025 में मोहन भागवत रिटायर हो रहे हैं और आरएसएस के 100 साल पूरे हो रहे हैं। इसी तरह दंतेवाड़ा की छात्रा से कहा गया कि 'माओवादी खून बहाकर बस्तर को लहूलुहान किए हुए हैं। ध्यान रहे कि 2007 के बाद दूसरी बार नगा और मिजो आइआरबी बलों को बस्तर में तैनात करने तथा सलवा जुडुम की तर्ज पर सामुदायिक बल विकसित करने का केंद्र सरकार का प्रस्ताव लागू होने वाला है। यानी 'समझौता-सद्भाव' की राजनीति के तहत उत्तर-पूर्व के आदिवासी एक बार फिर छत्तीसगढ़ के आदिवासियों की जान लेंगे और इसे राष्ट्रवाद से जोड़ा जाएगा।

दूसरी बात टीवी चैनलों ने निजी स्कूलों से बच्चों से 3 बजे के पहले दिनभर पूछा कि उन्हें मौका मिला तो वे क्या सवाल पूछेंगे। उन्हें कैसा मौका मिला? सरकारी स्कूलों के बच्चों के 'रेडीमेड' सवालों का 'उत्पादन' सरकारी क्षेत्र से हुआ; निजी स्कूल के बच्चों को पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप (पीपीपी) के माध्यम से। सरकारी शिक्षण तंत्र और निजी शिक्षण तंत्र एक तरफ प्रधानमंत्री के लुके-छुपे संबंध की एक लक मिली। कहते हैं कि प्रकृति से प्रेम करो, लेकिन यह नहीं बताया कि जल, जंगल और जमीन को निजी कंपनियों के हाथों में बेचने की रफ्तार तेज करने के लिए उन्होंने महीने भर में 90,000 करोड़ की परियोजनाओं को पर्यावरण का प्रदूषण करने की मंजूरी दे दी है। उन्होंने बच्चों को कहा चाँदनी रात में टहलो, लेकिन ये नहीं बताया कि स्मार्ट सिटी की उनकी अवधारणा सूरज-चाँद को निगल जाएगी। 'महान और सफल लोगों की जीवनियाँ पढ़ो', जो महान है वह अनुकरणीय है। असफल मतलब अछूत।

जरा ध्यान से पूरा भाषण और बच्चों से उनका प्रायोजित संवाद सुनिए। बाजार की 'ताकतवर ही बचा रह सकता है' की और वर्गविहीन अंधनैतिकता की ऐसी जायकेदार खिचड़ी परोसी जो आगामी दस साल के राष्ट्रवादी एजेंडे को सुपाच्य बनाएगी और 2025 में इस देश की 70 फीसदी नौजवान पीढ़ी सब खा-पीकर डकार तक नहीं मारेगी।

–अभिषेक श्रीवास्तव,
गाजियाबाद

दो

स्कूल के बच्चों को संबोधित कर प्रधानमंत्री मोदी ने जो भाषण दिया, वह पूरी तरह 'फ्रॉड' (धोखा) था। देश के बच्चों को बेवकूफ बनाने के लिए झूठ का पुलिंदा। प्रधानमंत्री ने अपने 'बाँचे गुजरात' (पढ़े गुजरात) कार्यक्रम के बारे में बताया कि इसके तहत प्रत्येक व्यक्ति ने ढेर सारी किताबें पढ़ीं? यह नहीं बताया खुद उन्होंने इस कार्यक्रम के तहत कितनी पढ़ीं है।यह 'बाँचे गुजरात' कार्यक्रम वोट-जुगाड़ को ध्यान में रखकर लोगों को आकर्षित करने के लिए बनाया गया था।अच्छी किताबें पढ़ी जाएं, लोगों में पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़े, ये तो बहुत दूर की बात है; कार्यक्रम ने किताबों में अरुचि ही पैदा की होगी क्योंकि कार्यक्रम के तहत बेकार की किताबें खरीदी गईं, जिन्हें स्कूल के अध्यापकों तक ने नहीं पढ़ा है। खरीदी गई ज्यादातर किताबें धर्म विषयक थीं और वह भी ख़ास हिंदू संप्रदायों और उनके संतो के बारे में। संकीर्णता ही इनकी विशेषता थी। कार्यक्रम के तहत विज्ञान, इतिहास, साहित्य यहाँ तक कि साहसिक अभियानों (एडवेंचर) संबंधी पुस्तकें ही नहीं बच्चों का मनोरंजन करने वाली पुस्तके तक नहीं खरीदी गईं, गुजरात में शिक्षा के सारे कार्यक्रम वोट को ध्यान में रखकर चलाए गए हैं। शिक्षा का गुजरात में क्या हाल है, यह तो अखिल भारतीय स्तर पर होनेवाली प्रतियोगितावाली परीक्षाओं में गुजरात के छात्रों के नतीजों से प्रकट है।

कार्यक्रम के तहत अज्ञात कुल-शील प्रकाशकों को 'रद्दी-सद्दी कुछ भी' छाप कर स्कूलों को सप्लाई करने को कहा गया था रा.स्व.सं. और भाजपा के संग डोलनेवालों को सरकारी पैसों से पैसे बनाने का अच्छा मौका मिला था।

अगर मोदी ने स्कूलों में पढ़ानेवाले शिक्षक अच्छे हों, इसके लिए थोड़ा सा भी प्रयत्न किया होता तो शायद गुजरात में शिक्षा का स्तर कुछ उन्नत हुआ होता था। अध्यापकों की 5000 रु0 की रूखी-सूखी पगार पर भरती की गई और मोदी की राजनीतिक छवि निखारने के लिए पैसों में कोई कमी नहीं रहनेदी गई था। मैं यही आशा करती हूँ कि हमारे देश के लोग वास्तविकता को पहचानेंगे और उसके मुआफिक अपनी राय बनाएंगे।

–श्रुति शाह
गाँधीनगर

वही धमक फिर

अफलातून

(हम यहां राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में गांधीजी के दृष्टिकोण पर एक दस्तावेजी लेख छाप रहे हैं। नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में केंद्र में भारतीय जनता पार्टी की सरकार कायम होने के साथ ऐतिहासिक घटनाओं के विवरणों में छेड़-छाड़ की आशंका बढ़ गई है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को ऐसे-ऐसे ओछे झूठ फैलाने में महारत है कि नाथूराम गोडसे की गोली लगने पर गांधीजी के मुंह से 'हे राम' नहीं 'हाय राम' उच्चरित हुआ था। गांधीजी की हत्या नहीं हुई थी उनका वध हुआ था (वध तो दुष्ट और पापी लोगों का होता है। हत्या तो किसी अच्छे और धर्मात्मा की होती है। यह दस्तावेजी लेख राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में गांधीजी के दृष्टिकोण को एकदम खोल कर रखता है।)

राजनाथ सिंह जी ने अपने भाषण में तीन सरासर झूठ बोले : 1. हम गांधीजी को राष्ट्रपिता मानते हैं, 2. उन्हें पूज्य मानते हैं, 3. गांधीजी ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की सराहना की। सामयिक वार्ता के तीसरे अंक (16 सितम्बर ,1977) में इस बात की चर्चा की गई थी। इस बातचीत में जेपी ने कहा था, 'अगर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने को भंग नहीं करता और जनता पार्टी द्वारा गठित युवा या सांस्कृतिक संगठनों में शामिल नहीं होता तो उसे कम से कम सभी समुदाय के लोगों, मुसलमानों और ईसाइयों को अपने में शामिल करना चाहिए।' लगभग चालीस वर्ष बाद भी वही सोच जारी है। भाजपा के सत्तारूढ़ होने से संघ का प्रभाव बढ़ना लाजिमी है य हमें पहले से अधिक झूठ और उसके कारनामों के प्रति सचेत होना और उनका विरोध करना होगा।

गृहमंत्री राजनाथ सिंह ने राज्यसभा में कहा, 'मत भूलिए कि महात्मा गांधी, जिनको हम आज भी अपना पूज्य मानते हैं, जिन्हें हम राष्ट्रपिता मानते हैं, उन्होंने भी आरएसएस के कैंप में जाकर 'संघ' की सराहना की थी।'

1974 में 'संघ' वालों ने जयप्रकाशजी को बताया था कि गांधीजी अब उनके 'प्रातःस्मरणीयों' में एक हैं। संघ के काशी प्रांत की शाखा पुस्तिका (क्रमांक-2, सितंबर-अक्तूबर, 2003) में अन्य बातों के अलावा गांधीजी के बारे में पृष्ठ 9 पर लिखा गया है, "देश विभाजन न रोक पाने और उसके परिणामस्वरूप लाखों हिंदुओं की पंजाब और बंगाल में नृशंस हत्या और करोड़ों की संख्या में अपने पूर्वजों की भूमि से पलायन, साथ ही पाकिस्तान को मुआवजे के रूप में करोड़ों रुपए दिलाने के कारण हिंदू समाज में इनकी (महात्मा गांधी की) प्रतिष्ठा गिरी।" यह बात तो हम सब जानते हैं कि संघ के कार्यक्रमों के दौरान बिकने वाले साहित्य में 'गांधी वध क्यों?' नामक किताब भी होती है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, हिंदू राष्ट्रवाद, सांप्रदायिकता और समाचार-पत्रों द्वारा दंगों की रिपोर्टिंग के बारे में जब गांधीजी का ध्यान खींचा जाता रहा तब उन्होंने इन विषयों पर साफगोई से अपनी राय रखी। संघ के एक कैंप में गांधीजी के जाने का विवरण उनके सचिव प्यारेलाल ने अपनी पुस्तक 'पूर्णाहुति' में दिया है।

आज गुजरात के कई गाँवों में 'हिन्दू राष्ट्र नू माणसा गाम' जैसी तख्तियाँ लगायी गयी हैं। मध्यप्रदेश के बस अड्डों पर 'हिन्दू राज्य' में आपका स्वागत है !' जैसे पोस्टर एक अभियान के तहत लगाये जा रहे हैं। ऐसा एक दौर 1942 में गांधी जी के समक्ष भी आया था। दिल्ली प्रदेश कांग्रेस कमिटी के अध्यक्ष आसफ अली ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की गतिविधियों की बाबत प्राप्त एक शिकायत गांधी जी को भेजी और लिखा कि शिकायतकर्ता को नजदीकी तौर से जानते हैं, जो एक सच्चे और निष्पक्ष राष्ट्रीय कार्यकर्ता हैं। इस पत्र का उल्लेख करते हुए (8-9 अगस्त,1942 को गांधीजी गिरफ्तार कर लिए गये सो गांधीजी की टिप्पणी जुलाई के अंत या अगस्त के प्रारंभिक दिनों में लिखी गई होगी) 9 अगस्त, 1942 के हरिजन (पृष्ठ : 261) में गांधी जी ने लिखा :

"शिकायती पत्र उर्दू में है। उसका सार यह है कि आसफ अली साहब ने अपने पत्र में जिस संस्था का जिक्र किया है (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) उसके तीन हजार सदस्य रोजाना लाठी के साथ कवायद करते हैं, कवायद के बाद नारा लगाते हैं–हिंदुस्तान हिंदुओं का है और किसी का नहीं। इसके बाद संक्षिप्त भाषण होते हैं, जिनमें वक्ता कहते हैं–'पहले अंगरेजों को निकाल बाहर करो उसके बाद हम मुसलमानों को अपने अधीन कर लेंगे, अगर वे हमारी नहीं सुनेंगे तो हम उन्हें मार डालेंगे।' बात जिस ढंग से कही गई है, उसे वैसे ही समझ कर यह कहा जा सकता है कि यह नारा गलत है और भाषण की मुख्य विषय-वस्तु तो और भी बुरी है।"

"नारा गलत और बेमानी है, क्योंकि हिंदुस्तान उन सब लोगों का है, जो यहां पैदा हुए और पले हैं और जो दूसरे मुल्क का आसरा नहीं ताक सकते। इसलिए यह (देश) जितना हिंदुओं का है उतना ही पारसियों, यहूदियों, हिंदुस्तानी ईसाइयों, मुसलमानों और दूसरे गैर-हिंदुओं का भी है। आजाद हिंदुस्तान में राज हिंदुओं का नहीं, बल्कि हिंदुस्तानियों का होगा और वह किसी धार्मिक पंथ या संप्रदाय के बहुमत पर नहीं, बिना किसी धार्मिक भेदभाव के निर्वाचित समूची जनता के प्रतिनिधियों पर आधारित होगा।

"धर्म एक निजी विषय है, जिसका राजनीति में कोई स्थान नहीं होना चाहिए, विदेशी हुकूमत की वजह से देश में जो अस्वाभाविक परिस्थिति पैदा हो गई है, उसी की बदौलत हमारे यहां धर्म के अनुसार इतने अस्वाभाविक विभाग हो गए हैं। जब देश से विदेशी हुकूमत उठ जाएगी, तो हम इन झूठे नारों और आदर्शों से चिपके रहने की अपनी इस बेवकूफी पर खुद हंसेंगे। अगर अंगरेजों की जगह देश में हिंदुओं की या दूसरे किसी संप्रदाय की हुकूमत ही कायम होने वाली हो तो अंगरेजों को निकाल बाहर करने की पुकार में कोई बल नहीं रह जाता। वह स्वराज्य नहीं होगा।"

गांधीजी विभाजन के बाद हुए व्यापक सांप्रदायिक दंगों के खिलाफ 'करेंगे या मरेंगे' की भावना से दिल्ली में डेरा डाले हुए थे। 21 सितंबर '47 को प्रार्थना-प्रवचन में 'हिंदू राष्ट्रवादियों' के संदर्भ में उन्होंने टिप्पणी की, "एक अखबार ने बड़ी गंभीरता से यह सुझाव रखा है कि अगर मौजूदा सरकार में शक्ति नहीं है, यानी अगर जनता सरकार को उचित काम न करने दे, तो वह सरकार उन लोगों के लिए अपनी जगह खाली कर दे, जो सारे मुसलमानों को मार डालने या उन्हें देश निकाला देने का पागलपन भरा काम कर सके। यह ऐसी सलाह है कि जिस पर चल कर देश खुदकुशी कर सकता है और हिंदू धर्म जड़ से बरबाद हो सकता है। मुझे लगता है, ऐसे अखबार तो आजाद हिंदुस्तान में रहने लायक ही नहीं हैं। प्रेस की आजादी का यह मतलब नहीं कि वह जनता के मन में जहरीले विचार पैदा करे। जो लोग ऐसी नीति पर चलना चाहते हैं, वे अपनी सरकार से इस्तीफा देने के लिए भले कहें, मगर जो दुनिया शांति के लिए अभी तक हिंदुस्तान की तरफ ताकती रही है, वह आगे से ऐसा करना बंद कर देगी। हर हालत में जब तक मेरी सांस चलती है, मैं ऐसे निरे पागलपन के खिलाफ अपनी सलाह देना जारी रखूंगा।"

सांप्रदायिक दंगों के बारे में अखबारों के आचरण के बारे में 8 अक्टूबर, '47 को गांधी जी ने फिर यह टिप्पणी की :

'अखबारों का जनता पर जबरदस्त असर होता है। संपादकों का फर्ज है कि वे अपने अखबारों में गलत खबरें न दें या ऐसी खबरें न छापें, जिससे जनता में उत्तेजना फैले। एक अखबार में मैंने पढ़ा कि रेवाड़ी में मेवों ने हिंदुओं पर हमला कर दिया। इस खबर ने मुझे बेचैन कर दिया। मगर दूसरे दिन अखबारों में यह पढ़ कर मुझे खुशी हुई कि वह खबर गलत थी। ऐसे कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। संपादकों और उप संपादकों को खबरें छापने और उन्हें खास रूप देने में बहुत ज्यादा सावधानी लेने की जरूरत है। आजादी की हालत में सरकारों के लिए यह करीब-करीब असंभव है कि वे अखबारों पर काबू रखें। जनता का फर्ज है कि वह अखबारों पर कड़ी नजर रखें और उन्हें ठीक रास्ते पर चलायें। पढ़ी-लिखी जनता को चाहिए कि वह भड़काने वाले या गंदे अखबारों की मदद करने से इनकार कर दें। (दिल्ली-डायरी, पृष्ठ : 77)'

1991-'92 वर्ष में काशी विश्वविद्यालय में प्रशासन की अनुमति से परिसर में विश्व हिंदू परिषद के नेताओं के भाषण, विडियो प्रदर्शन, राम शिला पूजन, अस्थि पूजन कराने तथा शाखायें लगाने के अलावा मुस्लिम छात्रों की पीटने, अरबी विभाग में तोड़फोड़, मुस्लिम शिक्षक, कर्मचारियों को धमकाने की घटनाएं हुई थीं। इस विश्वविद्यालय से जुड़े सर सुन्दरलाल चिकित्सालय में मुस्लिम मरीजों के परिचारकों को पीटा गया। यह अलीगढ़ विश्वविद्यालय की बाबत छपी गलत खबर के बहाने हुआ। महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय वडोदरा के प्रसिद्ध चित्रकार तथा दृश्यकला संकाय के प्रोफेसर गुलाम शेख को विश्वविद्यालय से निकाले जाने की छात्रसंघ द्वारा मांग की गई क्योंकि उन्होंने सांप्रदायिक सौहार्द के लिए चलाये जा रहे 'वडोदरा शान्ति अभियान' में हिस्सेदारी की थी। इस सन्दर्भ में प्रायः बासठ वर्ष पहले 21 जनवरी, 1942 को काशी विश्वविद्यालय के रजत जयन्ती समारोह में गांधीजी के प्रवचन के कुछ उद्धरण देना जरूरी लगता है। गांधीजी ने इस प्रवचन के दौरान कहा, 'एक बात और। पश्चिम के हर एक विश्वविद्यालय की अपनी एक-न-एक विशेषता होती है। कैंब्रिज और ऑक्सफोर्ड को ही लीजिए, इन विश्वविद्यालयों को इस बात का नाज है कि उनके हर एक विद्यार्थी पर उनकी विशेषता की छाप इस तरह लगी रहती है कि वे फौरन पहचाने जा सकते हैं। हमारे देश के विश्वविद्यालयों की अपनी ऐसी कोई विशेषता होती ही नहीं। वे तो पश्चिमी विश्वविद्यालयों की एक निस्तेज और निष्प्राण नकल भर हैं, अगर हम उनको पश्चिमी सभ्यता का सिर्फ सोखता या स्याही-सोख कहें, तो शायद वाजिब होगा। आपके इस विश्वविद्यालय के बारे

में अक्सर यह कहा जाता है कि यहां शिल्प-शिक्षा और यंत्र-शिक्षा का यानी इंजिनियरिंग और टेक्नोलॉजी का देशभर में सबसे ज्यादा विकास हुआ है और इनका शिक्षा से अच्छा सम्बन्ध है। लेकिन इसे मैं यहां की विशेषता मानने को तैयार नही। तो फिर इसकी विशेषता क्या हो? मैं इसकी एक मिसाल आपके सामने रखना चाहता हूं। यहां जो इतने हिंदू विद्यार्थी हैं , उनमें से कितनों ने मुसलमान विद्यार्थियों को अपनाया है? अलीगढ़ के कितने छात्रों को आप अपनी ओर खींच सके हैं? दरअसल आपके दिल में तो यह भावना पैदा होनी चाहिये कि आप तमाम मुसलमान विद्यार्थियों को यहां बुलाएंगे और उन्हें अपनाएंगे ।

"जिस तरह गंगा जी में अनेक नदियां आ कर मिलती हैं, उसी तरह इस देसी संस्कृति गंगा में भी अनेक संस्कृति-रूपी सहायक नदियां मिली हैं, यदि इन सबका कोई सन्देश या पैगाम हमारे लिए हो सकता है तो यही कि हम सारी दुनिया को अपनाएं और किसी को अपना दुश्मन न समझें। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि वह हिंदू विश्वविद्यालय को यह सब करने की शक्ति दे। यही इसकी विशेषता हो सकती है, सिर्फ अंग्रेजी सीखने से यह काम नहीं होगा।" (बनारस हिंदू विश्वविद्यालय रजत जयंती समारोह, पृष्ठ : 41-47)

प्यारेलाल ने 'पूर्णाहुति' में सितंबर, 1947 में संघ के अधिनायक गोलवलकर से गांधीजी की मुलाकात, विभाजन के बाद हुए दंगों व गांधी-हत्या का विस्तार से वर्णन किया है। प्यारेलालजी की मृत्यु 1982 में हुई। तब तक संघ ने उनके इस विवरण का खंडन नहीं किया था और अभी भी नहीं किया है। प्यारेलालजी का विवरण नीचे दिया जा रहा है :

'गोलवलकर से गांधीजी के वार्तालाप के बीच में गांधी मंडली के एक सदस्य बोल उठे–'संघ के लोगों ने निराश्रित शिविर में बढ़िया काम किया है। उन्होंने अनुशासन, साहस और परिश्रमशीलता का परिचय दिया है।' गांधीजी ने उत्तर दिया–'पर यह न भूलिए कि हिटलर के नाजियों और मुसोलिनी के फासिस्टों ने भी यही किया था।' उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को 'तानाशाही दृष्टिकोण रखने वाली सांप्रदायिक संस्था' बताया।' (पूर्णाहुति, चतुर्थ खंड, पृष्ठ : 17)

हम यहां गांधी वांग्मय से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और गांधी जी के संबंध के बारे में और कुछ उद्धरण भी दे रहे हैं। इनका मकसद रा.स्व. संघ द्वारा फैलाए जा रहे झूठ का खंडन करना है।

अपने एक सम्मेलन में गांधीजी का स्वागत करते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेता गोलवलकर ने उन्हें 'हिंदू धर्म द्वारा उत्पन्न किया हुआ एक महान पुरुष' बताया था। उत्तर में गांधीजी बोले–"मुझे हिंदू होने का गर्व अवश्य है। पर मेरा हिंदू धर्म न तो असहिष्णु है और न बहिष्कारवादी। हिंदू धर्म की विशिष्टता जैसा मैंने समझा है, यह है कि उसने सब धर्मों की उत्तम बातों को आत्मसात कर लिया है। यदि हिंदू यह मानते हों कि भारत में अहिंदुओं के लिए समान और सम्मानपूर्ण स्थान नहीं है और मुसलमान भारत में रहना चाहें तो उन्हें घटिया दरजे से संतोष करना होगा–तो इसका परिणाम यह होगा कि हिंदू धर्म श्रीहीन हो जाएगा... मैं आपको चेतावनी देता हूं कि अगर आपके खिलाफ लगाया जाने वाला यह आरोप सही हो कि मुसलमानों को मारने में आपके संगठन का हाथ है तो उसका परिणाम बुरा होगा।"

"इसके बाद जो प्रश्नोत्तर हुए उनमें गांधीजी से पूछा गया, 'क्या हिंदू धर्म आततायियों को मारने की अनुमति नहीं देता? यदि नहीं देता, तो गीता के दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण ने कौरवों का नाश करने का जो उपदेश दिया है, उसके लिए आपका क्या स्पष्टीकरण है?"

गांधीजी ने कहा–"पहले प्रश्न का उत्तर 'हां' और 'नहीं' दोनों है। मारने का प्रश्न खड़ा होने से पहले हम इस बात का अचूक निर्णय करने की शक्ति अपने में पैदा करें कि आततायी कौन है? दूसरे शब्दों में, हमें ऐसा अधिकार तभी मिल सकता है जब हम पूरी तरह निर्दोष बन जाएं। एक पापी दूसरे पापी का न्याय करने या फांसी लगाने के अधिकार का दावा कैसे कर सकता है? रही बात दूसरे प्रश्न की। यह मान भी लिया जाए कि पापी को दंड देने का अधिकार गीता ने स्वीकार किया है, तो भी कानून द्वारा उचित रूप में स्थापित सरकार ही उसका उपयोग भलीभांति कर सकती है। अगर आप न्यायाधीश और जल्लाद दोनों एक साथ बन जाएं, तो सरदार और पंडित नेहरू दोनों लाचार हो जाएंगे- उन्हें आपकी सेवा करने का अवसर दीजिए, कानून को अपने हाथों में लेकर उनके प्रयत्नों को विफल मत कीजिए।"

तीस नवंबर '47 के प्रार्थना प्रवचन में गांधीजी ने कहा, "हिंदू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का विचार है कि हिंदुत्व की रक्षा का एकमात्र तरीका उनका ही है। हिंदू धर्म को बचाने का यह तरीका नहीं है कि बुराई का बदला बुराई से लिया जाए। हिंदू महासभा और संघ दोनों हिंदू संस्थाएं हैं। उनमें पढ़े-लिखे लोग भी हैं। मैं उन्हें अदब से कहूंगा कि किसी को सता कर धर्म नहीं बचाया जा सकता।"

अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के अपने अंतिम संबोधन (18 नवंबर '47) में गांधीजी ने कहा, "मुझे पता चला है कि कुछ कांग्रेसी भी यह मानते हैं कि मुसलमान यहां न रहें। वे मानते हैं कि

ऐसा होने पर ही हिंदू धर्म की उन्नति होगी। परंतु वे नहीं जानते कि इससे हिंदू धर्म का लगातार नाश हो रहा है। इन लोगों द्वारा यह रवैया न छोड़ना खतरनाक होगा... मुझे स्पष्ट यह दिखाई दे रहा है कि अगर हम इस पागलपन का इलाज नहीं करेंगे, तो जो आजादी हमने हासिल की है उसे हम खो बैठेंगे।... मैं जानता हूं कि कुछ लोग कह रहे हैं कि कांग्रेस ने अपनी आत्मा को मुसलमानों के चरणों में रख दिया है। गांधी, वह जैसा चाहे बकता रहे! वह तो गया बीता हो गया है। जवाहरलाल भी कोई अच्छा नहीं है।

"रही बात सरदार पटेल की, सो उसमें कुछ है। वह कुछ अंश में सच्चा हिंदू है। परंतु आखिर तो वह भी कांग्रेसी ही है! ऐसी बातों से हमारा कोई फायदा नहीं होगा, हिंसक गुंडागिरी से न तो हिंदू धर्म की रक्षा होगी, न सिख धर्म की। गुरु ग्रंथ साहब में ऐसी शिक्षा नहीं दी गई है। ईसाई धर्म भी ये बातें नहीं सिखाता। इस्लाम की रक्षा तलवार से नहीं हुई है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में मैं बहुत-सी बातें सुनता रहता हूं। मैंने यह सुना है कि इस सारी शरारत की जड़ में संघ है। हिंदू धर्म की रक्षा ऐसे हत्याकांडों से नहीं हो सकती। आपको अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करनी होगी। वह रक्षा आप तभी कर सकते हैं जब आप दयावान और वीर बनें और सदा जागरूक रहेंगे, अन्यथा एक दिन ऐसा आएगा जब आपको इस मूर्खता का पछतावा होगा, जिसके कारण यह सुंदर और बहुमूल्य फल आपके हाथ से निकल जाएगा। मैं आशा करता हूं कि वैसा दिन कभी नहीं आएगा। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि लोकमत की शक्ति तलवारों से अधिक होती है।"

'...कनॉट प्लेस के पास एक मस्जिद में हनुमान जी विराजते हैं, मेरे लिए वह मात्र एक पत्थर का टुकड़ा है जिसकी आकृति हनुमान जी की तरह है और उस पर सिन्दूर लगा दिया गया है। वे पूजा के लायक नहीं। पूजा के लिए उनकी प्राण प्रतिष्ठा होनी चाहिए, उन्हें हक से बैठना चाहिए। ऐसे जहां तहां मूर्ति रखना धर्म का अपमान करना है। उससे मूर्ति भी बिगड़ती है और मस्जिद भी। मस्जिदों की रक्षा के लिए पुलिस का पहरा क्यों होना चाहिये? सरकार को पुलिस का पहरा क्यों रखना पड़े? हम उन्हें कह दें कि हम अपनी मूर्तियां खुद उठा लेंगे, मस्जिदों की मरम्मत कर देंगे। हम हिन्दू मूर्तिपूजक होकर, अपनी मूर्तियों का अपमान करते हैं और अपना धर्म बिगाड़ते हैं।

'एक मुसलमान मेरे पास परेशान हो कर आया। वह एक आधा जला कुरान शरीफ अदब से कपड़े में लपेट कर लाया। खोल कर मुझे दिखाया और चला गया। उसकी आंखों में पानी था, पर मुंह से वह कुछ बोला नहीं। जिसने कुरान शरीफ का अपमान करने की कोशिश की, उसने अपने धर्म का अपमान किया। उसके सामने मुसलमान कहीं मारपीट करके कहीं कुरान शरीफ रखना चाहे, तो वे कुरान-शरीफ का अपमान करेंगे।"

'इसलिए हिंदू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और दूसरे जो भी मुझे सुनना चाहते हैं और सिखों को बहुत अदब से कहना चाहूंगा कि सिख अगर गुरु नानक के दिन से सचमुच साफ हो गये, तो हिन्दू अपने आप साफ हो जायेंगे। हम बिगड़ते ही न जायें, हिंदू धर्म को धूल में न मिलायें। अपने धर्म को और देश को हम आज मटियामेट कर रहे हैं। ईश्वर हमें इससे बचा ले'। (प्रार्थना प्रवचन, खंड : 2, पृ. 144-150 तथा संपूर्ण गांधी वांग्मय, खंड : 90)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष नवम्बर 1947 में हिंदुस्तानी प्रतिनिधिमण्डल की नेता श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित की आवाज में आवाज मिलाकर जब पाकिस्तानी प्रतिनिधिमण्डल के नेता विदेश मन्त्री जफरुल्ला खां और अमरीका में पाकिस्तान के राजदूत एम. ए. एच. इस्फानी ने भी दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों पर अत्याचार का विरोध किया, तब गांधीजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और 16 नवंबर '47 को प्रार्थना में उन्होंने यह कहा, 'हिंदुस्तान (अविभाजित) के हिंदू और मुसलमान विदेशों में रहने वाले हिंदुस्तानियों के सवाल पर दो राय के नहीं हैं, इससे साबित होता है कि दो राष्ट्रों का उसूल गलत है। इससे आप लोगों को मेरे कहने से जो सबक सीखना चाहिए, वह यह है कि दुनिया में प्रेम सबसे ऊंची चीज है। अगर हिंदुस्तान के बाहर हिंदू और मुसलमान एक आवाज से बोल सकते हैं, तो यहां भी वे जरूर ऐसा कर सकते हैं, शर्त यह है कि उनके दिलों में प्रेम हो। अगर आज हम ऐसा कर सके और बाहर की तरह हिंदुस्तान में भी एक आवाज से बोल सके, तो हम आज की मुसीबतों से पार हो जायेंगे! (संपूर्ण गांधी वांग्मय, खण्ड : 90)

इन सब बातों को याद करना उस भयंकर त्रासदायी और शर्मनाक दौर को याद करना नहीं है, बल्कि जिस दौर की धमक सुनाई दे रही है उसे समझना है। गांधीजी उस वक्त भले एक व्यक्ति हों, आज तो उनकी बातें कालपुरुष के उद्गार-सी लगती और हमारे विवेक को कोंचती हैं। उस आवाज को तब न सुन कर हमने उसका गला घोंट दिया था। अब आज? आज तो आवाज भी अपनी है और गला भी! इस बार हमें पहले से भी बड़ी कीमत अदा करनी होगी। ❑

गांधी और आम्बेडकर : शत्रु नहीं, सहयोगी

देवानूर महादेव

[आम्बेडकर और गांधी को लेकर बहस जब-तब उठ खड़ी होती है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि जो बहस होती है, उसमें दोनों के बीच पुराने मतभेदों को तूल देकर आक्रामकता पैदा की जाती है, जो दोषारोपण के सिवाय कुछ भी नहीं करती। यहाँ कन्नड़ के प्रसिद्ध लेखक देवानूर महादेव का लेख छापा जा रहा है। लेख गांधी और आम्बेडकर के मतभेदों को नजरअंदाज न करते हुए दोनों के बीच ऐक्य के सूत्र तलाशता है और समस्या को एक नई दृष्टि से देखने और हल करने की माँग करता है सं0]

'ग्राम स्वराज्य : गांधी और आम्बेडकर : सुलह-वार्ता' पर आयोजित एक बहस में भाग लेने के लिए जब मुझे आमंत्रित किया गया, तो मैंने आयोजकों से कुछ मजाकिया लहजे में पूछा 'क्या आप लोग एक झगड़े को प्रेम और मनुहार में परिणत कर देना चाहते हैं।' दोनों के बीच झगड़ा अभी भी चल रहा है। यह कोई मामूली भी नहीं; बड़े जोर का झगड़ा है। इसका मतलब यह है कि दोनों गांधी और आम्बेडकर-जीवित हैं, बल्कि पहले से भी ज्यादा जीवित हैं।

मैं इसे एक अच्छे संकेत के रूप में देखता हूँ। एक ऐसे समय में जब वैश्वीकरण के जयघोष में बाजार उन्मत्त होकर नाच रहा है और हर आदमी यह मानता हुआ जान पड़ता है कि बाजार निजाम बन चुका है, जिसके आगे किसी की नहीं चलेगी। अब जब सारे मतवाद और आंदोलन लुप्त होते जा रहे हैं तो गांधी और आम्बेडकर का जीवित रहना मुझे डूबते को तिनके के सहारे जैसा मालूम पड़ता है।

दोनों के झगड़े पर विचार करने के पहले मैं दोनों के बीच जब-तब प्रकट होने वाले आदर, भरोसे और सराहना के दो प्रसंगों (उदाहरणों) का जिक्र करना चाहता हूँ। झगड़े को मैं भूल नहीं रहा हूँ, उसकी बात निश्चय ही करूँगा।

'दस स्पोक आम्बेडकर (ऐसा कहा आम्बेडकर ने)' खंड एक : संपादक भगवान दास, में एक जगह पूना समझौते के बाद आम्बेडकर का एक कथन उद्धृत किया गया है; आम्बेडकर कहते हैं, "गांधी से मिलने के बाद मैंने महसूस किया कि हमारे बीच बहुत ज्यादा समानता है तो मुझे बड़ा अचरज हुआ। मैं कबूल करता हूँ कि मुझे अचरज नहीं, बहुत ज्यादा अचरज हुआ।" आम्बेडकर के इस कथन को हम कैसे समझें इसकी क्या व्याख्या करें। इसी तरह 1946 में गांधी ने गोरा (प्रसिद्ध नास्तिक गांधीवादी गोपा राजू रामचंद्र राव) 'गोरा' के दामाद को कहा : 'तुम्हें आम्बेडकर जैसा बनना चाहिए; तुम्हें अस्पृश्यता और जाति व्यवस्था के उन्मूलन के लिए काम करना चाहिए। अस्पृश्यता, हर हालत में जो भी कीमत चुकानी पड़े, समाप्त होनी चाहिए।' गांधी के इस कथन की हम क्या व्याख्या करें? डी.आर. नागराज (दिवंगत डी.आर. नागराज एक अत्यंत प्रखर दलित चिंतक थे, जिनकी अल्पायु में मृत्यु हो गई) ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति कथन' में यह बताया है कि हर आदमी जब गांधी को महात्मा कहता था तो महात्मा का कहना था, सच्चा महात्मा (तो) आम्बेडकर है। यह क्या है? क्या यह झगड़े सहित दो महात्माओं के बीच होने वाला महज आदान-प्रदान है? इस तरह की बातों के बावजूद आखिर झगड़ा क्यों था?

गांधी जन्मना रूढ़िवादी और परंपरावादी थे। अपनी जीवन यात्रा में चलना सीखते हुए, गिरते-पड़ते हुए वे आगे बढ़ते गए। वे हमेशा अपनी यात्रा में रूढ़िवादियों और परंपरावादियों को अपने साथ ले जाते हुए कनखियों से उन पर नजर डालते रहते थे कि वे (रूढ़िवादी, परंपरावादी) उनसे कदम मिलाकर चल पा रहे हैं कि नहीं। इतिहासकार चंद्रशेखर का कहना है कि "यदि गांधी राजनीतिक सक्रियता से सामाजिक कार्य-कलाप की ओर उन्मुख हुए तो आम्बेडकर सामाजिक कार्य-कलाप से राजनीतिक सक्रियता की ओर। दोनों में एक ऊपर से नीचे, तो दूसरा नीचे से ऊपर चला। तो क्या इस भिन्नता की वजह से दोनों के बीच संघर्ष गहराया? यही नहीं, दोनों एक ही समय में सक्रिय (समकालीन) भी थे; हर रोज जो घटता था, उसकी प्रतिक्रिया दोनों पर होती थी और दोनों को सोचना पड़ता था। इसके साथ गोलमेज सम्मेलन की

बात भी जुड़ी हुई है। गोलमेज सम्मेलन में गांधी के क्षुद्र व्यवहार ने आम्बेडकर को बहुत आहत किया था। आम्बेडकर की प्रतिक्रिया को इन सब बातों के संदर्भ में समझना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि अवसर के संदर्भ में व्यक्त प्रतिक्रियाओं को सीमित कर आम्बेडकर की प्रतिक्रियाओं को समग्र रूप से देखना चाहिए। अगर इस अवसर के संदर्भ वाली प्रतिक्रियाओं को प्रधानता देंगे तो उन्हें कटघरे में कैद कर रूढ़ (कठोर, कट्टर) बना डालेंगे। यही बात गांधी के बारे में लागू होती है। गांधी और आम्बेडकर को एक समग्र दृष्टि से देखना आवश्यक है।

भारतीय गाँव के बारे में गांधी और आम्बेडकर की धारणाओं में बड़ा अंतर था और यह अंतर भी उनके बीच विवाद (झगड़े) का एक बड़ा कारण था। दोनों के बारे में विचार करते वक्त इस अंतर के महत्व को समझना चाहिए। गांधी गाँव को एक स्वावलंबी स्वर्ग बनाने का सपना देखते थे, जबकि आम्बेडकर गाँव को साक्षात नरक मानते थे। गांधी गाँव के स्वावलंबी होने में भारत की मुक्ति देखते थे तो आम्बेडकर को लगता था कि गाँव से निजात पाकर ही भारत मुक्त हो सकता है। एक के लिए गाँव एक रूमानी सपना था तो दूसरे के लिए एक क्रूर यथार्थ। उस समय आम्बेडकर का यथार्थ ही सच था। गाँवों में निचली जातियों के लोगों की हालत ऐसी थी कि वे साँस तक नहीं ले सकते थे। यह कोई अचरज की बात नहीं कि गाँव आम्बेडकर को एक दुःस्वप्न जैसा जान पड़ता था। लेकिन अब क्या स्थिति है, अगर आज आप किसी गाँव को देखें तो यह पाएंगे कि ग्राम पंचायत व्यवस्था के अमल में आने के बाद सब जातियों में राजनीतिक दलों से जुड़े समूह है। यह सही है कि यह एक सामान्य नहीं, असामान्य और अस्थायी स्थिति है, जो राजनीतिक पार्टियों के बीच प्रतिद्वन्द्विता के कारण उत्पन्न हुई है। लेकिन जाति-व्यवस्था से असम्पृक्तता, गत्यात्मकता को भी ध्यान से देखना चाहिए। अधिकार प्राप्त पदों के आरक्षण के कारण मेरे गाँव में एक दलित महिला पंचायत की प्रधान (अध्यक्ष) बनी है। मेरे बचपन में एक दलित का ग्राम पंचायत के दफ्तर में प्रवेश संभव नहीं था; यह कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि कोई दलित पंचायत के दफ्तर में प्रवेश कर सकता है। जब गत्यात्मक उर्जस्विता हमारी आँखों के सामने प्रत्यक्ष है तो क्या हमें उससे आँखें फेर लेना चाहिए? क्या हमें उसे पैनी नजर से देखना नहीं चाहिए?

इस सारे उलझाव के बीच यदि हम गांधी के एक समकालीन व्यक्ति के रूप में 1920 के आस-पास के उनके विचारों को देखें तो हम पाएंगे कि उनका मत था :

1. हिन्दू धर्म वर्ण व्यवस्था पर टिका हुआ है; उसका आधार वर्ण व्यवस्था है, 2. वर्ण व्यवस्था में स्वराज के बीज निहित हैं, 3. वर्ण व्यवस्था सामाजिक नियंत्रण का दूसरा नाम है; वर्ण व्यवस्था सामाजिक नियंत्रण के लिए है, 4. राष्ट्रीय एकता के लिए अंतर्जातीय खान-पान और अंतर्जातीय विवाहों की आवश्यकता नहीं है, 5. वर्ण व्यवस्था समाज की स्वाभाविक सोपानवत् व्यवस्था है, 6. मैं (गांधी) वर्ण व्यवस्था को नष्ट और समाप्त करने की किसी भी कोशिश का विरोधी हूँ।

अगर हम 1920 के आस-पास गांधी के समसामयिक होते तो हम इन विचारों का उतने ही जोर से विरोध करते जितने जोर से आम्बेडकर ने किया था।

लेकिन कट्टर रूढ़िवादी गांधी का रूप बदला; वह पहले जैसा नहीं रहा। 1928 में एक वर्ण की उपजातियों के बीच विवाह को उसने प्रोत्साहित किया, इसके बाद एक के बाद एक कदम आगे उठाते हुए 1946 तक पहुँचते-पहुँचते उसने यह नियम बना डाला कि वह सिर्फ उन्हीं विवाहों में शामिल होगा, जो सवर्णों और हरिजनों के बीच होंगे यानी सवर्ण-हरिजनों के अंतर्जातीय विवाहों को छोड़कर किसी विवाह में शामिल नहीं होगा। इसके बाद सेवाग्राम में उसने उन विवाहों के अनुष्ठान तक को अनुमति देने से इन्कार किया, जिनमें वर-वधू में से कोई हरिजन न हो। 'अगर हम अस्पृश्यता को समाप्त करना चाहते हैं तो वर्ण व्यवस्था को समाप्त करना होगा'—गांधी के इस अंतिम स्थिति तक पहुँचने, इस धारणा के अंतिम रूप ग्रहण करने के पीछे मुझे लगता है कि आम्बेडकर की तुलिका के स्पर्श की बहुत बड़ी भूमिका थी।

1946 में गांधी जिस मुकाम पर पहुँचे अगर उस पर 1920 में ही पहुँच जाते तो क्या होता? भारत की जातियाँ और धर्म गांधी को जीवित निगल जाते। गांधी ही नहीं रहता और भारत के वर्ण और जाति वाले समाज का बाल भी बाँका न होता और वह (जाति और वर्ण वाला समाज) अछूतों को, जो थोड़ा सर उठाने की कोशिश कर रहे थे, बलि का बकरा बनाना अपना धर्म मानता। हमें इस स्थिति को भी समझना चाहिए।

इतना सब कुछ कहने के बाद भी मुझे गांधी की एक बात समझ में नहीं आती और वह बात यह है कि गांधी ने अपने एक जीवन-काल में खुद को इतना ज्यादा रूपांतरित किया फिर भी वह कैसे वंशगत पेशों के औचित्य और उनकी दक्षता के बारे में अपने मत पर टिके रहे, उसे क्यों नहीं रूपांतरित कर पाए? यद्यपि हम यह जानते हैं कि गांधी का यह मत सब पेशों द्वारा जीवन-निर्वाह करने लायक कम से कम आय अर्जित करने के विचार पर आधारित था, फिर भी वंशगत पेशों के बारे में गांधी के मत को स्वीकार करना कठिन है, क्योंकि वंशगत पेशों में यदि ज्यादा दक्षता प्राप्त होती भी है तो उसकी परिणति दक्षता के यांत्रिक (मेकानिकल) हो जाने में ही होती है। इसके विपरीत जब वंशगत पेशे में परिवर्तन होता है तो

पेशे में सृजनात्मकता आती है और नई संभावनाएँ ज्यादा प्रकट होती हैं। गांधी को, जो हमेशा अपने मत को बदलने के लिए तैयार रहते थे, हमें अपनी बात मनवाने के लिए उनके साथ एक छोटा झगड़ा मोल लेना पड़ेगा। 1946 मे गांधी ने कहा था कि वे एक वर्गविहीन, जातिविहीन समाज, समाज की स्थापना करने की कोशिश कर रहे हैं और एक ऐसे भारत की आकांक्षा करते हैं, जिसमें सिर्फ एक जाति होगी और ब्राह्मण स्वाभाविक रूप से हरिजनों से विवाह करेंगे। इसके साथ गांधी यह भी कहते हैं कि विषमता (असमानता) से हिंसा और अहिंसा से समता पैदा होती है। इस प्रकार वे अहिंसा और समता को एक सिक्के के दो पहलू बताते हैं। अहिंसा और समता की पारस्परिकता वाला गांधी का यह कथन मार्क्स के राज्य के मुरझा कर न रह जाने वाले कथन जितना ही सारगर्भित है; अपने स्वप्न के अंतिम चरण के रूप में मार्क्स ने राज्य के मुरझा कर विलीन हो जाने की कल्पना की थी।

गांधी और आम्बेडकर अंत में जिस मुकाम पर पहुँचे थे, उसको अगर हम अपनी कल्पना के सहारे दृश्यमान करें तो हम इस सवाल से मुखातिब हुए बिना नहीं रह सकते कि अगर गांधी और आम्बेडकर जीवित होते तो अब कहाँ होते? वे कैसे होते? क्या वे किसी वृद्धाश्रम के एक कोने में पड़े हुए सिर्फ एक दूसरे की शिकायत सुनते हुए, अपने सामने जो सब घट रहा है उसे असहाय अवस्था में देखते हुए, अपने सर पर हाथ धर कर आकाश की ओर ताक रहे होते या वे बच्चे डी.आर.नागराज की चिढ़ाने वाली बातें सुन रहे होंगे—बच्चा नागराज सिर्फ चिढ़ाने के लिए उनके पास अक्सर जाता रहता है। दोनों को चिढ़ाने के लिए कहता है 'अगर कोई व्यक्ति गाँव के संदर्भ में खुद को आम्बेडकरवादी कहे और गाँव के बाहर अपने को गांधीवादी जैसा अनुभव करे तो उसकी अनुभूति जायज है।' क्या वे (गांधी और आम्बेडकर) इस कथन में छिपे जादुई खजाने को खोज पाएंगे, जिसके बारे में वे खुद कुछ भी नहीं जानते थे और चिल्ला कर हरेक को कहेंगे कि खजाने पर बैठी परी की पायल की रुनझुन को सुनो और लोगों के उनकी चिल्लाहट न सुनने के कारण क्या वे यह नहीं सोचेंगे कि वे मृतकों के बीच रह रहे हैं और इस स्थिति में अपने को एकदम हताश अनुभव कर क्या वे अपनी मृत्यु की कामना नहीं करेंगे?

इस तरह का दृश्य हमारे सामने उपस्थित नहीं होना चाहिए। लेकिन इसके न होने के लिए यह समझना आवश्यक होगा : हम दोनों के सम-सामयिक बन जाएं तो झगड़े से बचा नहीं जा सकता।

कभी-कभी किसी क्षण दोनों एक-दूसरे के नजदीग भी आ सकते हैं, लेकिन झगड़े को एक समग्र व सम्यक दृष्टि से देखों तो झगड़ा प्रम और मनुहार की क्रीड़ा जैसा भी लग सकता है। दोनों में कौन स्त्री है और कौन पुरुष, यह मैं प्रत्येक व्यक्ति की कल्पना पर छोड़ देना चाहता हूँ, क्योंकि एक बार जब मैंने कहा था कि आम्बेडकर एक ऐसा बेटा है जो भेदभाव के चलते क्रोध में घर त्याग देता है तो लोगों ने मेरी बात को ज्यों का त्यों समझकर असल अर्थ का अनर्थ कर डाला था, जबकि मेराआशय सही वारिस के बहिष्कृत होने से था। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति की कल्पना पर छोड़ना मुझे बेहतर लगता है, लेकिन हमें कब्रें खोदकर, दोनों की हड्डियाँ गिनकर, मृत हड्डियों की पूजा कर, तर्क कर, तार्किक वितंडा खड़ा कर और कर्मकांडी शुचिता और अशौच के नियम पालन कर गांधी और आम्बेडकर को मरने देना नहीं चाहिए।

अब यदि हम दोनों को एक साथ ला सकें तो हम यह देखेंगे कि उस समय जब उनके बीच झगड़ा हुआ था तो काला खालिस काला होता था और सफेद खालिस सफेद। अब काले रंग में ही हजार रंगते हैं। इसी तरह सफेद में भी हजार छायाएँ हैं। रंग की असंख्य रंगतों की शक्ल में नहीं लूटा जाता। नकाब पहन कर शोषण अपने को रक्षक के रूप में पेश करता है। नकाबपोश के रूप में वह बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियों का मसाला बना दिया गया है। कहावत है 'पौधा को पेड़ कारूप ग्रहण करने के पहले झुकाया जाता है'; हमारी इस पृथ्वी पर शोषण को एक मूल्य के रूप में स्वीकार करवाने के लिए रोज नए-नए जाल बिछाए जा रहे हैं।

मेरे मित्र राजेंद्र दानी अपने एक लेख 'हाथी दांत की मीनार, बाजार और राजनीति' में बताते हैं कि बच्चों के कॉमिकों (चित्र-कथाओं) में उपनिवेशवाद का छिपा इतिहास जाहिर होता है। हम इस बात को नजर अंदाज करते हैं कि (चित्र कथा में) आदिम निवासियों पर हुक्म चलाने वाला फैंटम (चित्र कथा का एक पात्र) गोरे आदमी का आदि रूप है, जिसने अफ्रीका को अपना उपनिवेश बनाया और टारजन? वह क्या करता है? प्रकृति और पशुओं के ऊपर स्वछंद रूप से शासन करता है, प्रकृति पर आक्रमण करता है और उसे उपभोग का साधन बनाता है। टारजन गोरे आदमी का प्रतीक है। यह लेख इस प्रकार की व्याख्या के चलते हमें असाधारण अंतदृष्टि प्रदान करता है। इसी तरह अंग्रेज चिंतक जेरेमी सीब्रुक का कहना है कि जब यह विचार कि 'दुनिया के मजदूर एकजुट होकर दुनिया को गुलामी से मुक्ति दिला सकते हैं, दुर्बल होने लगता है तो यह मिथक पनपना शुरू कर देता है कि 'हमें जो भी चाहिए, वह सिर्फ पूँजीवाद के रास्ते से ही पाया जा सकता है।'

आज जीवन पैसों को मूलमंत्र मानकर चल रहा है। समता और न्याय की आकांक्षा दुर्बल और असहाय हो चली है। मजे की बात यह है कि अब भूख और रोजगार के बारे में पूँजीवाद सबसे ज्यादा मुखर है। वह ऐसी नौटंकी कर रहा है कि मानो

गरीबों की सारी समस्याओं का हल सिर्फ उसी के पास है। अपने इस दावे पर हमें यकीन करवाने के लिए पूँजीवाद पूरे दम-खम से कोशिश कर रहा है।

ऐसी स्थिति में मुक्ति कैसे संभव है? और कौन मुक्तिदाता होगा? खलनायक ने नायक को गिराकर राँद डाला है और खुद नायक की भूमिका अदा कर रहा है। यह जमाना सूचना युग का है। अब मनुष्य पहले से ज्यादा सचेत हो रहा है। पहले भी विषमता और भेदभाव थे, लेकिन उनके प्रति एक प्रकार की विचारहीन मौन उदासीनता थी। आज भेदभाव और विषमता भीषण जान पड़ते हैं और हमारी पृथ्वी सारी सुख-शांति गँवा कर भीतर ही भीतर सुलग रही है।

इन सबके बावजूद विभिन्न संगठन और राजनीतिक दल, जिन्हें समता और न्याय के सपने को साकार करने की चेष्टा करनी चाहिए थी, मिल नहीं रहे हैं; उनमें एकता कायम नहीं हो रही है। अपने-अपने मतवादों (ऑडियोलॉजी) के मुताबिक उन्होंने अपने अलग-अलग शत्रु चिन्हित कर लिए हैं और अपनी अलग-अलग खिचड़ी पका रहे हैं। यह कर्मकांडी शुचिता का पालन करने जैसी बात है। समय के साथ कट्टरता और अलगाव बढ़ते जाते हैं जिसके चलते वे अपने चिन्हित शत्रुओं को भूल जाते हैं और अपने आस-पास के संगठन और दलों को शत्रु मानने लगते हैं। तो ऐसे में शोषित लोग कैसे एकता केसूत्र में बँधेंगे? आज स्थिति यह है कि एक तरफ रूढ़िवादी अतीत के रूमानी सपने दिखा रहे हैं तो दूसरी तरफ प्रगतिशील भविष्य के रूमानी सपने। अतीत और भविष्य के बीच वर्तमान पिस गया है; दुर्घटनाग्रस्त हो गया है।

इन सबके साथ प्राइवेट पूँजी के बल पर चलने वाले गैर सरकारी संगठन (एनजीओ) है, जो अपने को जन शक्तियों से भी ज्यादा जनता का पक्षधर घोषित कर जन आंदोलनों के रास्ते में रुकावट डाल रहे हैं। यही नहीं दलित, नारी, पर्यावरण, किसान संगठनों ने अपनी अस्मिता की राजनीति को पील पाँव की तरह इतना फूल जाने दिया है कि वे समता और न्याय के आदर्शों को भूलकर रेंग रहे हैं। मैं यह सब इस इरादे से कह रहा हूँ कि मैं यह चाहता हूँ कि अस्मिता की राजनीति फूस के ढेर में आग लग जाने की तरह जलकर राख हो जाने के बजाए रोशनी दिखाने वाले एक चिराग की तरह जले। शोषण-दोहन का अब तक जो इतिहास रहा है, उसमें प्रकृति के बचे रहने की संभावना थी, लेकिन वैश्वीकरण और निजीकरण और लोभ-लालच के कारण प्रकृति का जिस तरह विनाश कर रहे हैं, उसमें तो लगता है कि कल आएगा ही नहीं।

विनाश के इस युग में क्या सिर्फ एक गांधी पर्याप्त होगा? या सिर्फ एक आम्बेडकर? शायद नहीं। लोहिया? शायद नहीं। हमें उस मनीषी मार्क्स को भी लाने की जरूरत पड़ेगी। लेकिन यह भी पर्याप्त नहीं होगा। जो यह दावा कर रहे हैं कि वे जिसे चाहते हैं, वह पर्याप्त होगा, वे अपने सामने रखी लाश के आगे छाती पीट रहे हैं। हमें अपनी केंचुल उतार फेंकनी होगी और एक नए प्रजन्म की खोज करनी होगी। हमें बुद्ध और वचनकारों (अक्का महादेवी, सिद्धेश्वर, बासवन्ना आदि वचनकार) के स्पर्श की भी आवश्यकता होगी।

❑

संगठन समाचार

'शहीदों' की स्मृति को भुलाना चिंतनीय

मगधांचल समग्र विकास समिति द्वारा शहीद जगतपति पार्क सह प्रतिमा स्थल में सोमवार को एक कार्यक्रम का आयोजन किया गया। कार्यक्रम में 1942 अगस्त क्रांति की प्रासंगिकता पर चर्चा की गयी। कार्यक्रम की अध्यक्षता जन मुक्ति विमर्श नामक पत्रिका के संपादक प्रियदर्शी ने की। संचालन समिति के अध्यक्ष संजय कुमार श्रीवास्तव ने कहाकि 1942 अगस्त क्रांति के दौरान पटना सचिवालय के समक्ष सात छात्र शहीद हुए थे। इसमें एक शहीद ओबरा प्रखण्ड के खरांटी निवासी कुमार जगतपति भी थे, लेकिन आज शहीद जगतपति की स्मृति को भुला दिया गया है। समाजवादी चिंतक रघु ठाकुर ने 1942 की स्थितियों व वर्तमान हालातों पर विस्तार से चर्चा की और कहा कि स्वदेशी व स्वावलम्बन से होगी तरक्की। उन्होंने कहा कि पुरानी जीटी रोड का नामकरण 1942 अगस्त क्रांति पथ व सदर अस्पताल का नामकरण शहीद जगतपति किया जाना चाहिए। कार्यक्रम को खादी ग्रामोद्योग समिति के अध्यक्ष अजय कुमार श्रीवास्तव, त्रिभुवन सिंह, मुखलाल सिंह, विनय चंचल, बच्चू प्रसाद सिंह, नीरज कुमार, रामजी, विंदेश्वरी प्रसाद शर्मा, डा. नरेश कुमार सिंह कुशवाहा, सीनेश राही, मोहम्मद कमाल के अतिरिक्त समाजवादी जन परिषद के साथियों सोमनाथ यादव, नरेन्द्र कुमार और अरूण कुमार बागी ने सम्बोधित किया।

–चंचल मुखर्जी

पश्चिम एशिया पर एकाग्र

दक्षिण–पश्चिम एशिया

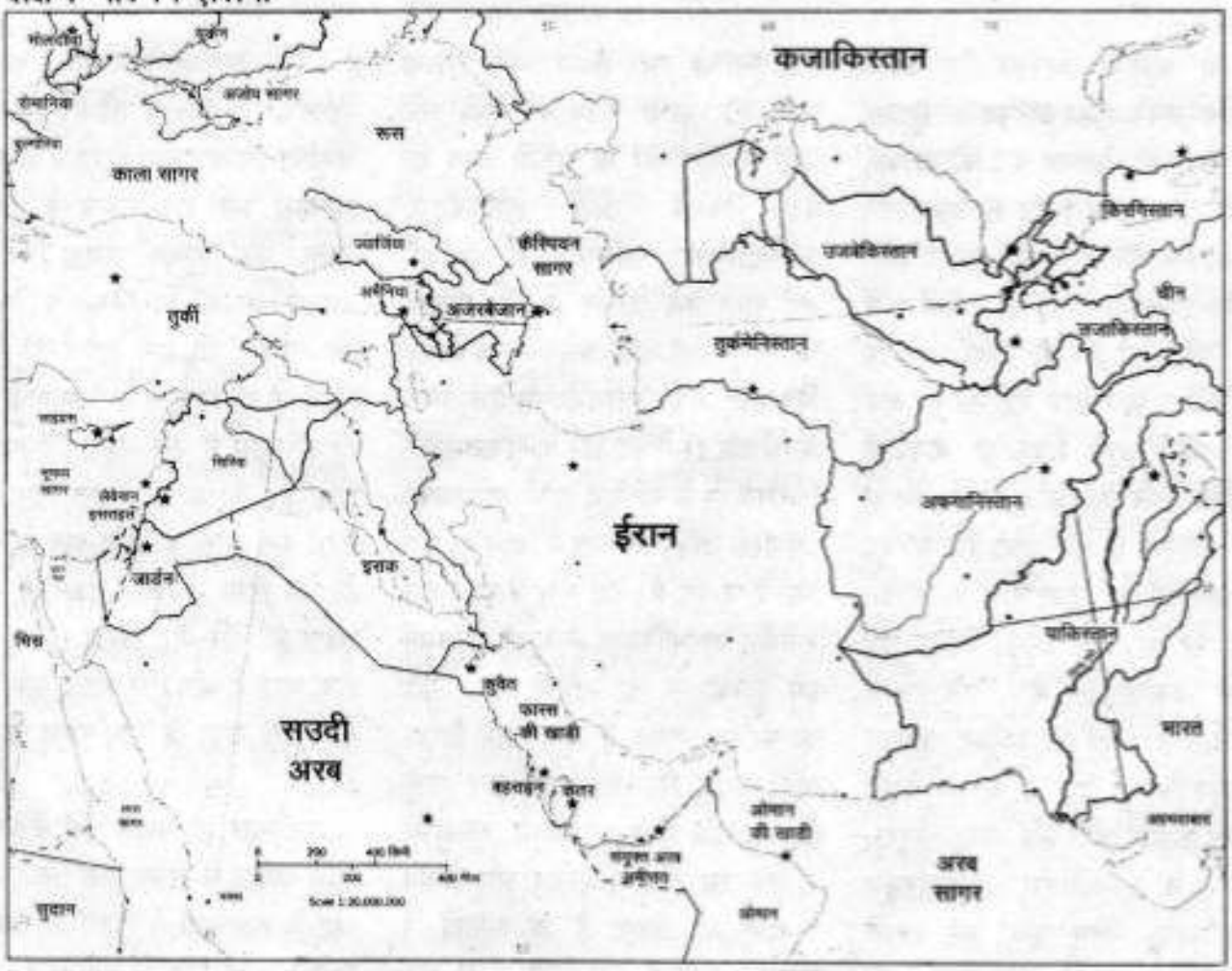

पश्चिम एशिया इन दिनों भयानक उथल-पुथल से गुज़र रहा है। इराक़ के एक हिस्से में काबिज़ आइएसआइएस ने जो क़त्लेआम मचाया है और जिस तरह हाल में दो पत्रकारों की हत्या की है, उसके बाद फिर इस्लामी आतंकवाद का शोर सारी दुनिया में है। आइएसआइएस के इन हमलों की वजह से ये बात भुला दी गई है कि इज़राइल ने इन्हीं दिनों गज़ा पट्टी में हज़ारों बेगुनाह फिलस्तीनियों का खून बहाया है। मुश्किल यह है कि पश्चिम एशिया चाहे जितना भी चर्चा में रहता हो, उससे हमारी सीधी जान-पहचान कम है। इसी तरह इस्लाम के अतिवादी संगठनों ने इस्लाम को जैसे एक इकहरे-से धर्म में बदल डाला है जबकि उसकी अपनी रंगतें हैं और अपने-अपने मुल्कों के हिसाब से बदली हुई खुशबू है। भारत के लिहाज से इस पूरी पट्टी को समझना इसलिए कहीं ज्यादा अहम है कि हमारी साझा संस्कृति का एक बड़ा हिस्सा इस्लाम से जुड़ा है। इस इस्लाम की और इससे जुड़े मुल्कों की ठीक से समझ न होने की वजह से भी हमारे रिश्तों के आपसी तार आपस में खूब घिसते हैं और कभी-कभी ग़ैरज़रूरी तौर पर गरम हो जाते हैं। सत्ताओं को ये सूरत रास आती है क्योंकि इससे उनके वोट बनते हैं। लेकिन इस वोट की चोट हम सहते हैं। इसलिए ज़रूरी है कि बने-बनाए खांचों से अलग पश्चिम एशिया की राजनीतिक और धार्मिक पहचानों को, और इस मिट्टी से अपने रिश्ते को ठीक से समझें। सामयिक वार्ता के इस अंक में इस विषय पर एकाग्र तीन लेख ये ज़रूरत मुकम्मिल तौर पर पूरी करते हैं, यह दावा तो नहीं किया जा सकता, लेकिन वे एक खिड़की खोलते हैं जिनसे हम एक धड़कती हुई दुनिया को अपनी निगाह से पहचान सकें। इस पश्चिम एशिया पर एकाग्र का पूरा संयोजन हमारे अत्यंत प्रिय साथी प्रियदर्शन ने किया है। ❑

साहित्य की ज़मीन पर यह साझा पट्टी

प्रियदर्शन

एक थी अमीना। वह हर रोज आधी रात तक अपने शौहर अहमद का इंतजार किया करती थी। अहमद यारों की महफिल से लौटता, घर पहुँच कर सो जाता और फिर निकल जाता। न जाने कितने साल यह सिलसिला चलता रहा। अमीना ने कभी नहीं पूछा कि वह कहां जाता है और किनके साथ शाम गुजारता है। एक बार अमीना अपने शौहर की जानकारी के बगैर अपने बेटे के कहने पर घर से बाहर निकलती है और पहले एक मस्जिद और फिर बेटे के स्कूल जाती है। लेकिन इतनी भर बात पर उसका शौहर उसे घर से निकाल देता है, उसके मायके भेज देता है। यहाँ भी अमीना लगातार उस खुशकिस्मत दिन का इंतजार करती है, जब उसका शौहर उसे लौटा लाएगा।

मिस्र के उपन्यासकार नगीब महफूज के उपन्यास 'पैलेस वाक' की कहानी काफी बड़ी है, उसका वास्ता बीसवीं सदी की शुरुआती दहाइयों में मिस्र के भीतर चल रही राजनीतिक-सामाजिक खदबदाहट से भी है। लेकिन यह उपन्यास पढ़ते हुए किसी भारतीय पाठक को यह बिल्कुल अपने समाज की कहानी मालूम पड़ सकती है—बिल्कुल वैसी ही पितृसत्तात्मक पारिवारिक व्यवस्था, घरों की दहलीज तक सिमटी लड़कियाँ और बाहर मटरगश्ती करने को आजाद लड़के। लगता ही नहीं कि नगीब महफूज किसी और समाज की कहानी लिख रहे हैं।

मिस्र वह कोना है जहाँ से एशिया खत्म और अफ्रीका शुरू होता है। नक्शे में मिस्र से कुछ पहले और ऊपर टर्की है जो एशिया और यूरोप को बांटता है। इस्तांबुल वह शहर है जो आधा एशिया में है और आधा यूरोप में। मिस्र और टर्की से शुरू करें तो सऊदी अरब को एक किनारे छोड़ इराक-ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान से होते हुए हम भारत तक पहुँचते हैं और पाते हैं कि यह पूरी पट्टी अपने अलग-अलग धार्मिक विश्वासों, अपने अलग-अलग ऐतिहासिक संघर्षों और इससे पैदा होने वाली राजनीतिक विवशताओं के बावजूद अपने सामाजिक-पारंपरिक जीवन विन्यास में बहुत दूर तक मिलती-जुलती है। यह एक जैसापन उस मानवीय सार्वभौमिकता जैसा नहीं है जिसमें हमें दुनिया भर का साहित्य मानव मात्र का साहित्य लगता है और उसमें दिखने वाली पीड़ाएँ बिल्कुल अपनी जान पड़ती हैं। यह एक जैसा पन अपने एक-दूसरे से बंधे उस इतिहास-भूगोल और जीवन अभ्यास का हिस्सा है जो सदियों में विकसित हुआ है और जिसे तमाम तरह के सांस्कृतिक हमले पूरी तरह काट नहीं पाए हैं। बेशक, इस अभ्यास में एक जैसे अभिशाप भी शामिल हैं, लेकिन यह पट्टी मूलतः एक जैसी है जिसका दुर्भाग्य से हमारे भीतर एहसास बहुत कम रह गया है—क्योंकि हमारे बीच का पुल यूरोप और अमेरिका के रास्ते से बनता है, उसमें सीधी आमदरफ्त कम बची हुई है—जो बची हुई है, उसे कई तरह की धार्मिक-राजनीतिक भगदड़ों ने बिल्कुल धूल-धूसरित कर डाला है।

लेकिन जब राजनीति, इतिहास, भूगोल सब जैसे इस आमदरफ्त को भुलाने पर आमादा दिखाई दें तो साहित्य ही उन धुंधली पड़ रही पदचापों को बचाए रखता है जिनसे हम अपने साझापन को कुछ बेहतर ढंग से पहचान पाते हैं। एक नोबेल विभूषित उपन्यासकार ओरहान पामुक का उपन्यास 'स्नो' इस लिहाज से फिर एक बेहतर पाठ सुलभ कराता है। वहाँ कठमुल्लेपन और आधुनिकता के बीच चल रहा टकराव जो द्वन्द्व रचता है, उसकी विडंबनाएँ हमें बिल्कुल जानी-पहचानी लगती हैं। उपन्यास में एक स्कूल प्रिंसिपल की हत्या हुई है। हत्यारा बहुत विनम्रता से उनसे बात करता है। बात-बात पर कहता है, वह हिंसा में नहीं, संवाद में यकीन रखता है। धीरे-धीरे उसका लहजा सख्त होता जाता है और फिर संवाद एक सिहरा देने वाली हत्या के साथ खत्म हो जाता है।

दरअसल इन तमाम वर्षों में यह पूरी पट्टी—भारत से लेकर मिस्र तक—तरह-तरह के झंझावातों से गुजरी है। मिस्र की गुलाबी क्रांति फिर से लहूलुहान ठहराव की चपेट में आ गई है। मिस्र और टर्की के बीच इजराइल और लेबनान से लेकर सीरिया तक की वह पूरी पट्टी है, जिसमें सांप्रदायिक नफरत और जुनून की सियासत रोज दिल दहला देने वाली कहानियों के साथ सामने आती है। उससे आगे ईरान-इराक से लेकर अफगानिस्तान-पाकिस्तान तक कठमुल्ला-दहशतगर्दी के कई दशक हैं। मुश्किल यह है कि इस झंझावाती महादेशकाल की जटिलता को समझने की जगह हम दो-तीन बहुत आसान, सरलीकरणों का सहारा लेते हैं। सबसे बड़ा सरलीकरण यह है कि यह सब इस्लाम की असहिष्णुता के अलग-अलग रंग हैं। दूसरा सरलीकरण इसी की कोख

से निकलता है कि यह इस्लाम के पिछड़ेपन का नतीजा है और उसे पिछड़ा बनाए रखने की साजिश है। तीसरा सरलीकरण यह है कि यह सब तेल की राजनीति में अमेरिका का खड़ा किया हुआ टंटा है।

बेशक, यह तीसरा सरलीकरण बहुत वजनी है, लेकिन इससे बाकी दो सरलीकरणों को भी बल मिलता है। सच्चाई यह है कि यह पूरी पट्टी कहीं अपनी राजनीतिक व्यवस्था, कहीं अपनी सामाजिक परंपरा और कहीं अपनी आर्थिक प्राथमिकताओं की वजह से उलझी हुई है, कहीं इस पट्टी के अलग-अलग मुल्कों में काबिज लालची हुक्मरान इस लड़ाई को अपने-अपने ढंग से रसद दे रहे हैं, कहीं पुराने जख्म अपने नए और उतने ही बर्बर प्रतिशोध ले रहे हैं, कहीं नकली बुनियाद पर रोप दिया गया एक मुल्क बेदखल किए गए बाशिंदों को अपनी तोपों और मिसाइलों के दम पर नागरिकता की सरहद में रहना सिखा रहा है, कहीं यूरोप और अमेरिका का पाला-पोसा हुआ राक्षसी कट्टरपंथ अपना मोल मांग रहा है और कहीं सीधे पश्चिमी दुनिया के हित इस एशियाई हिस्से को अपने कुचक्रों की राजधानी बनाए बैठे हैं। इसे इस्लामी दुनिया का झगड़ा करार देना उसकी कहीं ज्यादा ठोस और वास्तविक वजहों से आँखें मूँद लेना है।

दुर्भाग्य से इन तमाम झगड़ों के शिकार एक ही किस्म के लोग हैं—वे मामूली लोग जो इतिहास के चक्के तले रौंदे जा रहे हैं, वे मासूम बच्चे जो कहीं ढाल की तरह इस्तेमाल किए जा रहे हैं और कहीं आसान निशानों की तरह और इन सबके साथ रौंदी जा रही है वह सामाजिक विरासत जो सदियों में धीरे-धीरे आकार लेती है, वे कहानियाँ जो मनुष्यता की स्मृति बनाती हैं, अचरज को एक मूल्य की तरह बचाए रखती हैं और अपने साथ वह इतिहास लिए चलती हैं जो अन्यथा किन्हीं किताबों में दर्ज नहीं हो पाता। अली बाबा और चालीस चोर, सिंदबाद जहाजी और हजार रातों की कहानियाँ और न जाने कितने वे किरदार, जो इस मिट्टी से उगे और हमारे अपने हो गए, जो हमारी रातों की नींद का जादू बनाते रहे, वे सब कुचले जा रहे हैं। मजारें, दरगाहें, विरासतें रौंदी जा रही हैं।

भारत से लगे अफगानिस्तान और पाकिस्तान में भी यही कहानी दूसरे स्तर पर दोहराई जा रही है। नार्वे की एक लेखिका आश्ने सीयर्स्ताड ने काबुल में सुल्तान नाम के एक किताब वाले के घर छह महीने गुजारे और 'बुकसेलर ऑफ काबुल' के नाम से एक किताब लिखी। किताब वाला बताता है कि उसकी किताबें पहले रूसियों ने जलाईं, फिर तालिबान ने और फिर अमेरिकी सैनिकों ने। इसी किताब में लेखिका बताती हैं कि जिस काबुल में धूप से चमड़ी जल जाती है, वहाँ लड़कियाँ धूप की कमी से बीमारी की शिकार होती हैं, चूँकि उन्हें घर से बाहर निकलने नहीं दिया जाता। मशहूर लेखक खालिद हुसैनी के उपन्यासों, 'द काइट रनर', 'थाउजैंड स्प्लेंडिड संस' या 'व्हेन द माउंटेंस इकोड' में अपनी तरह की कारोबारी रोमानियत और पश्चिम प्रभावित दृष्टि है, लेकिन इसके बावजूद इन किताबों से अफगानिस्तान के इस हिस्से की जो त्रासदी छनकर आती है, वह अलक्षित नहीं रह जाती। बामियान के गिराए जाते बुद्ध, मकतलगाहों में बदले जाते फुटबॉल स्टेडियम और इन सबके बीच कहानी लिखने की कोशिश कर रहा एक बच्चा—ऐसे प्रतीक बनाते हैं जिनकी मार्फत इस त्रासदी को काफी कुछ समझा जा सकता है।

अंततः सवाल यही बचा रहता है कि इतना सारा खून-खराबा क्यों हो रहा है, वह कौन सी राजनीति है जो इतनी पुरानी सभ्यताओं कीकोख से पनपे मुल्कों को कट्टरता, दहशतगर्दी और मौत के घरों में तब्दील कर रही है। जनरल जिया उल हक की मृत्यु पर केंद्रित हनीफ मोहम्मद का उपन्यास 'अ केस ऑफ एक्सप्लोडिंग मैंगोज' बहुत दिलचस्प ढंग से बताता है कि किस तरह जुल्फिकार अली भुट्टो के तख्तापलट के बाद जिया उल हक ने पाकिस्तान की पेशेवर आधुनिक फौज को एक प्रतिबद्ध मजहबी जमात में बदलने की कोशिश की। जिया उल हक के पीछे वही अमेरिका खड़ा था जो अफगानिस्तान में तालिबान के पीछे खड़ा रहा और इराक में सद्दाम विरोधियों के पीछे। इजराइल तो खैर अमेरिका का खड़ा किया हुआ ही है।

इस समूचे संघर्ष को फिर भी अमेरिकी उकसावे और ईंधन के इकहरे चश्मे से देखना हालात को ठीक से पढ़ने से इनकार करना होगा। मेरा कहना बस इतना है कि इन सरलीकरणों के पार जाकर हम यह समझने की कोशिश करें कि राजनीति और इतिहास की बड़ी विडंबनाएँ सबसे ज्यादा उस आदमी को कुचलती हैं जो किसी भी सभ्यता का सबसे वाजिब और वैध नागरिक होता है। यह सच इतिहास, भूगोल और राजनीतिशास्त्र की किताबें भले न समझा पाती हों, साहित्य समझाता है। सिर्फ गद्य में ही नहीं, पद्य में भी। आखिर टर्की के कवि नाजिम हिकमत से लेकर फिलस्तीनी कवि महमूद दरवेश और पाकिस्तान के फ़ैज अहमद फ़ैज तक जिस पीड़ा और संघर्ष की बात करते रहे हैं, उनसे हमारी पीड़ा या हमारा संघर्ष किस मायने में अलग है? यह एक साझी विरासत है जो टूट और बिखर रही है, जिसे बचाया जाना जरूरी है। ❑

अरब के अरबों मसाइल

अखलाक़ अहमद उस्मानी

एक अरब के अरबों मसाइल हैं। इस ज़मीन को खुदा ने नेमतों से नवाज़ा है लेकिन मोरक्को से लेकर इराक़ तक और तुर्की की सरहद से लेकर यमन तक अरब अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की वजह से कम, अपनी कमज़ोरियों के लिए अधिक जाना जा रहा है। इस्लाम की वैचारिक और चारित्रिक ताक़त को अपनी हरकतों से नीचा दिखाने वाले अरबों के पास दुनिया चलाने के लिए ऊर्जा के भंडार हैं लेकिन वे अपनी अर्थव्यवस्था तो दूर, अपनी सियासत तक तय नहीं कर सकते। राजा हो या तानाशाह, नेता हो या अफ़सर, अपनी सुरक्षा के लिए अरब के हुक्मरानकुछ भी करने को तैयार हैं- उसके जायज़ या नाजायज़ होने से उन्हें कम ही फ़र्क़ पड़ता है।

अरेबिया के नक़्शे में सुन्नी राष्ट्र तुर्की, शिया बहुल देश ईरान और यहूदी बहुल इज़राइल इकलौते ऐसे मुल्क हैं जहां फिलहाल सियासी स्थिरता दिख रही है और अपने-अपने ढंग से उन्होंने अपना क्षेत्रीय संतुलन भी साधा हुआ है और सुरक्षित हैं। मगर यह चीज़ हर अरब और अफ्रीका में पड़ने वाले मग़रिबी यानी पश्चिमी अरब को नसीब क्यों नहीं हो सकती?

ईरान अपने प्रतिबंधों से बाहर निकलने के लिए विकसित राष्ट्रों के साथ बातचीत कर रहा है। कई दशकों के आर्थिक प्रतिबंधों से बाहर आने के लिए ही हसन रूहानी को वोट मिला है और वहाँ का युवा रोज़गार के लिए बहुत व्याकुल है। रूहानी का मानना है कि ईरान अपने प्रतिबंध हटवाने के लिए परमाणु कार्यक्रम कुछ दिन के लिए रोक दे तो उसके लिए हालात साज़गार बन सकते हैं। यह लेख लिखने तक ईरान चर्चा कर रहा है और अगर ऐसा हो गया तो अगले छह माह के लिए उसे फिर तेल के बदले वस्तु और कुछ डॉलर मिल जाएंगे जो ईरान को पटरी पर लाने में मददगार होंगे।

लेकिन पड़ोसी इराक़ और सीरिया में सिर उठाकर खड़े हुए आतंकवादी संगठन आइएसआइएस यानी सीरिया और इराक़ के लिए इस्लामी खिलाफ़त ने पहले सीरिया और अब इराक़ में विशाल तबाही मचा रखी है। अलबग़दादी नाम के जिस आतंकवादी के हाथ में आइएसआइएस की कमान है, वह अपने बर्बर कृत्यों के लिए रातों रात बदनामी के ऐसे कगार पर पहुँच गया है जहाँ से अलक़ायदा को अपनी सत्ता हिलती नज़र आ रही है। अलबग़दादी अब तक हज़ारों सीरियाई और इराक़ी सैनिकों को मार चुका है और धर्म के नाम पर 'काफ़िर' घोषित किए गए हज़ारों आम नागरिकों की मौत का कोई हिसाब नहीं है। जो अमेरिका सीरिया में बशर अल असद की सरकार को गिराने के लिए आइएसआइएस के लोगों को इंग्लैंड, फ्रांस, तुर्की, सऊदी अरब, क़तर और इज़राइल से मदद कर रहा था, वह दो अमेरिकी पत्रकारों की हत्या का वीडियो सामने आने के बाद दबाव में है। जब तक ये दहशतगर्द सीरिया की सरहद में रहकर आतंक फैलाते रहे, अमेरिका इन्हें क्रांतिकारी मानता रहा, लेकिन जब उन्होंने उत्तरी सीरिया के साथ इराक़ की सीमा में मिलकर अमेरिकी हितों या नागरिकों को नुक़सान पहुंचाना शुरू किया तो अमेरिका को समझ में आया कि वे 'आतंकवादी' हैं। शांति का नोबेल पुरस्कार ले चुके डेमोक्रेट पार्टी के बराक हुसैन ओबामा लगातार अपने पाखंड के लिए बदनाम हो रहे हैं।

हाल ही में हमास और इज़राइल के संघर्ष के मूल में भी सऊदी अरब और क़तर के बीच दरार एक वजह है। जब इराक़ में आइएसआइएस का दुर्दांत नंगा नाच चल रहा था तभी क़तर समर्थित मुस्लिम ब्रदरहुड की फ़िलस्तीनी शाखा, हमास इज़राइल से उलझी। इस संघर्ष ने दुनिया का ध्यान इराक़ से ग़ज़ा पट्टी पर केन्द्रित कर दिया। नतीजा आम फिलस्तीनी अवाम को भुगतना पड़ा जिसने व्यापक बर्बरता, तबाही और नुक़सान देखा- ढाई हज़ार नागरिकों की मौत भी। इस तांडव के बाद इज़राइल युद्ध विराम के लिए माना है।

रूस की मदद से बचे सीरिया में बशर अल असद की सरकार को गिराने के मंसूबे इसलिए भी नाकाम हुए कि सऊदी अरब और क़तर के तानाशाहों के बीच तनाव रहा। मिस्र में मुस्लिम ब्रदरहुड की सरकार को जनता ने उखाड़ फेंका तो तत्कालीन सेनाध्यक्ष और वर्तमान राष्ट्रपति ने मौक़ा का फ़ायदा उठाते हुए सऊदी अरब को अपने साथ मिला लिया। सऊदी अरब ने क़तर समर्थित मुस्लिम ब्रदरहुड की सरकार गिरवाने में बहुत व्यापक भूमिका निभाई। मिस्र की जनता मुस्लिम ब्रदरहुड के वहाबी एजेंडे से काफ़ी नाराज़ थी और इस जलती आग में सऊदी अरब ने भी अपनी रोटियाँ सेंक ली।

जब से क़तर और सऊदी अरब के बीच झगड़ा हुआ है, पूरे एशिया में इस्लामी आतंकवाद भी दो हिस्सों में बँट गया है। मिस्र के बाद इराक़ और सीरिया

में आइएसआइएस के आतंक के रूप में सऊदी अरब ने दूसरी धाक दिखाई तो खबरों का सिरा मोड़ने के लिए क़तर समर्थित हमास ने इज़राइल पर रॉकेट दागकर अरब की हवा बदलने की कोशिश की जिसकी क़ीमत ढाई हज़ार फ़िलिस्तीनियों ने अपने खून से चुकाई। लेकिन इज़राइल- हमास संघर्ष रुकते ही आइएसआइएस ने अपने नम्बर बढ़ाने के चक्कर में दो अमेरिकी पत्रकारों का गला काटकर अमेरिकी रुचि को समाप्त कर घरेलू नागरिक दबाव में आइएसआइएस पर कार्रवाई के लिए मजबूर कर दिया है। इन घटनाओं से अमेरिका और सऊदी अरब के रिश्तों में और दरार आई है। क़तर को फ़िलहाल अमेरिका का भरपूर समर्थन मिल रहा है और इसके बूते वह सऊदी अरब की वहाबी नीति से कहीं भी उलझने के लिए तैयार है।इराक़ और सीरिया में आइएसआइएस और मिस्र की सरकार पर सऊदी अरब का बहुत प्रभाव है।

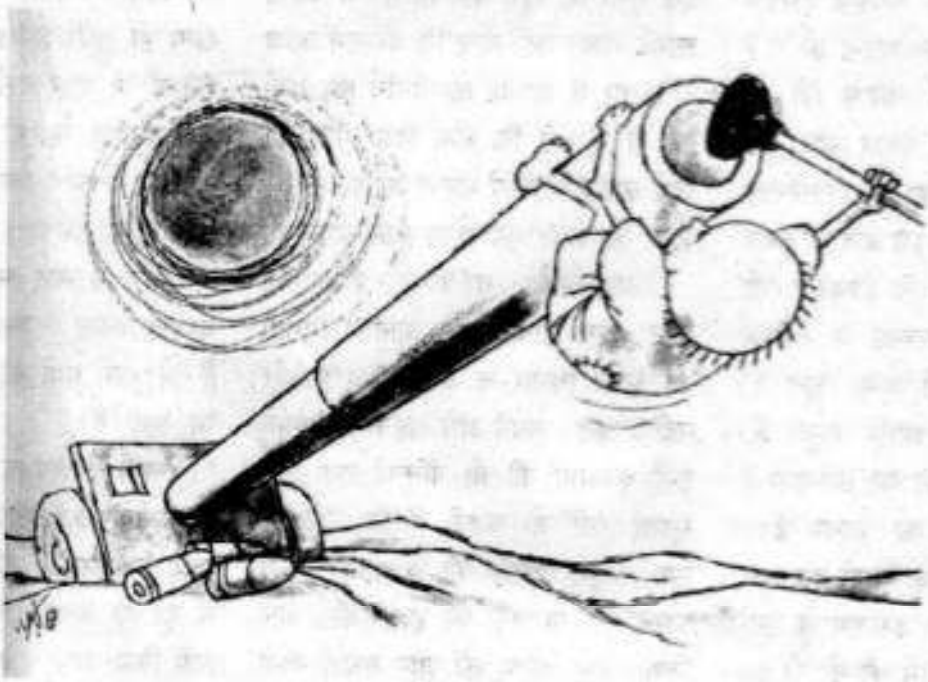

ग़द्दाफ़ी की कथित तानाशाही से आज़ाद किए गए लीबिया की राजधानी पर अंसार अलशरिया का क़ब्ज़ा हो चुका है। मुहम्मद ज़वाही के संगठन अंसार अल शरिया के आतंकवादी संगठन का अगर त्रिपोली और बेंगाज़ी पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है तो यही माना जाएगा कि लीबिया उनके क़ब्ज़े में है। लीबिया मुअम्मर गद्दाफ़ी के बाद अपने सबसे खराब दौर से गुज़र रहा है। क़तर से क़रीबी अंसार अल शरिया की ट्यूनिशिया में भी शाखा है। अल्जीरिया ने अरब बसंत के बाद से अबू अयाज़ अलतुनीसी ने इस संगठन के माध्यम से देश पर क़ाबिज़ होने की कोशिश की है। फ़िलहाल अफ्रीका के तेल प्रधान अर्थव्यवस्था वाले देश अल्जीरिया को अब्दुल अज़ीज़ बुतफ्लीका की पार्टी नेशनल लिबरेशन फ्रंट पिछले 16 साल से देश चला रही है और मिस्र के साथ इसके घनिष्ठ संबंध हैं। सऊदी अरब के क़रीब चल रहे अलसीसी ने सऊदी की कट्टर वहाबी विचारधारा को छोड़कर सऊदी अरब से हर प्रकार की सहायता लेने में कोई देरी नहीं की। हाल ही में अल्जीरिया के अब्दुल अज़ीज़ और मिस्र के प्रमुख फ़तह अलसीसी के बीच मुलाक़ात में लीबिया के राजनीतिक हालात पर चर्चा की गई। अफ्रीका के सबसे बड़े देश अल्जीरिया के रुख से कम से कम मग़रिबी अरब अफ्रीका का राजनीतिक चरित्र तय होता है। मिस्र की लीबिया में व्यापक राजनीतिक दिलचस्पियां हैं जिसका मकसद है क़तर समर्थित मुस्लिम ब्रदरहुड को समाप्त करना। अरब बसंत के जनक ट्यूनीशिया में मुंसिफ़ मरज़ूकी और मेहदी जोमा का शासन है। ट्यूनीशिया ने ज़ैनल आबेदिन बेन अली की तानाशाही से जितने शांतिप्रिय तरीक़े से आज़ादी पाई है, अगर वह लोकतंत्र की जड़ों को भी उतनी ही शांति से स्थापित होने देते हैं तो अफ्रीका की उत्तरी पट्टी और भूमध्य सागर के किनारे वाले राष्ट्रों में ट्यूनीशिया का राजनीतिक वर्चस्व शीर्षस्थ होगा।

दरअसल इस पूरे खेल में समझने वाली बातें कई हैं–एक तो यही कि पश्चिमी एशिया के हुक्मरान अपने पिछड़ेपन और अंतर्विरोधों की सज़ा अपने अवाम को दे रहे हैं। दूसरी बात यह कि जो पश्चिम एशिया बाहर से बिल्कुल एक संज्ञा में समेट लिया जाता है, वह खुद में कई टकरावों और अंतर्विरोधों का मंच रहा है। तीसरी बात यह कि जो तेल इन मुल्कों को वरदान की तरह मिला है, वह इनके लिए अभिशाप भी बनता जा रहा है- क्योंकि इस तेल की ख़ातिर पश्चिमी हुक्मरानों और कारोबारियों ने यहां के तानाशाहों को जैसे अपना एजेंट बना डाला है। इन सबने मिलकर ऐसा चक्र बुना है कि जो इससे बाहर निकलना चाहता है, वह मारा जाता है। इन सबका कुल नतीजा यह होता है कि पेट्रो डॉलरों की बरसात से नहाते अरब मुल्कों के तानाशाह न जम्हूरियत की तरफ बढ़ना चाहते हैं न मानसिक-बौद्धिक तरक्क़ी की तरफ।

❑

हमीं हम हैं तो क्या हम हैं...?

असद उररहमान किदवाई

एक लफ्ज़े मोहब्बत का अदना ये फसाना है,
सिमटे तो दिले आशिक फैले तो जमाना है।

जिगर मुरादाबादी ने तो मोहब्बत को एक शेर में बयान कर दिया, लेकिन अगर मोहब्बत और अमन के मजहब इस्लाम को एक वाक्य में बयान करना हो तो?

इस्लाम का सार बताना हो तो 'कलमा-ए-शहादत' से बेहतर और कुछ नहीं। 'ला इलाहा इल्लल्लाह मोहम्मदुर्रसूलुल्लाह' या इस बात पर ईमान कि पूजने योग्य केवल एक ईश्वर है (जो केवल अरबी में ही अल्लाह के अलावा 99 दूसरे नामों से भी जाना जाता है) और मोहम्मद उसके अंतिम रसूल हैं। मुसलमानों को इस बात पर विश्वास है कि क़ुरआन अल्लाह का कलाम है।

ये तो हुई इस्लाम के सिमटे हुए शब्द की व्याख्या, रही बात इस्लाम के सारे पहलुओं पर नजर डालने की तो वो इस छोटे से लेख में क्या, किताबों का अंबार लग जाए फिर भी मुमकिन नहीं होगा। लेकिन इतना जरूर है कि इस्लाम सिर्फ कलमा दोहराने, दिन में पाँच वक्त नमाज पढ़ने, रमजान के महीने में रोजा रखने, अपनी संपत्ति का कम से कम चालीसवां हिस्सा जरूरतमंदों को जकात के तौर पर देने और सारी जिम्मेदारियां पूरी करने के बाद साधन हो तो जिंदगी में एक बार हज करने तक ही सीमित नहीं। ये लोगों के पहनावे, रहन-सहन, शादी-ब्याह, जमीन-जायदाद, जीवन-शैली यहाँ तक कि मौत पर भी असर डालता है। मुसलमानों की भी और दूसरे धर्मों के लोगों की भी।

इस्लाम मूल शब्द सलाम से आया है जिसका अर्थ शांति और सुरक्षा है। लेकिन आज दुनिया में इस्लाम के चर्चे इसलिए नहीं हैं कि उसने अमीर-गरीब और जात-बिरादरी का फर्क मिटाया या महिलाओं को उनके अधिकार दिए बल्कि इसलिए क्योंकि उसका नाम लेकर लोग एक दूसरे का खून बहा रहे हैं। ये कहना शायद गलत नहीं होगा कि इस्लाम आज दुनियाभर में आतंक का पर्याय बन गया है। या यूँ कहें कि बना दिया गया है। *जाने कब कौन किसे मार दे काफिर कहकर शहर का शहर मुसलमान हुआ जाता है।*

अलकायदा, तालिबान, इस्लामिक स्टेट, अल शबाब जैसे आतंकी गिरोहों को अपने विचार के अलावा कुछ और नहीं दिखता। अपने अंधे अहंकार के आगे इन्हें कुरआन की वो पंक्तियाँ तक नहीं सुझाई देतीं जो कहती हैं कि "जिसने एक मासूम शख्स की हत्या की मानो उसने पूरी मानवता की हत्या की, और जिसने एक मनुष्य की जान बचाई मानो उसने पूरी मानवता को बचाया"। बमों से लैस इनका कारवां हजारों साल की संस्कृति रौंदता और मासूमों की जानें कुचलता आगे बढ़ता जा रहा है। स्वयं को खलीफा कहने वाला अल-बगदादी क्या कभी सोचता होगा कि जिनका चोला वे पहनने की ताक में हैं उन खलीफाओं की वजह से लाखों लोग मुसलमान हुए थे, जबकि ये मुसलमानों को काफिर कहकर मौत का निवाला बना रहा है। सवाल ये भी है कि आतंकी संगठनों को आतंक सिखाया किसने? इस्लाम ने या अपने फायदे के लिए अमेरिका जैसे देशों ने?

दरअसल धर्म के ठेकेदार चाहते ही नहीं कि आम लोग धर्म को समझ पाएं। अपनी दुकान बंद होते कौन देखना चाहता है?

इसीलिए इस्लाम में बदलते जमाने के साथ इज्तिहाद के जरिए कानून बदलने की इजाजत थी, इज्तिहाद–यानी क़ुरआन और हदीस के हवाले से तर्कों के आधार पर कानून बनाना, ये कवायद भी अब खत्म हो चुकी है। इसीलिए जब 18वीं शताब्दी में शाह वलीउल्लाह ने कुरआन का अनुवाद फारसी में किया तो कुछ मुफ्तियों ने फतवा जारी करके उन्हें काफिर बता दिया।

धर्म ये बात स्वीकार करता है कि बदलते जमाने के साथ नजरिए भी बदलते हैं और धर्म ग्रंथों को समझने के नए ढंग भी आते हैं।

तभी तो जब तारीफ खालिदी ने हाल में कुरआन का अंग्रेजी अनुवाद किया तो पाया कि उसमें कहीं भी मर्दों को जन्नत में हूरें या कुंवारी कन्याएँ देने का वादा नहीं किया गया है बल्कि स्त्री और पुरुष दोनों को बेदाग जीवनसाथी देने का वादा किया गया है। क़ुरआन की इस आयत में संबोधन पुरुषों से नहीं लोगों से है। एक शब्द का गलत अनुवाद हो जाए तो अर्थ का जो अनर्थ होता है, उसका उदाहरण इससे अच्छा (या बुरा) और कहाँ मिलेगा। वैसे भी इस्लाम में जन्नत की कल्पना शारीरिक भोग से परे है। साफ है कि इस्लाम के नाम पर जान देने को आतुर लोग क़ुरआन के पहले ही फरमान 'इकरा' यानी पढ़ो! पर अमल नहीं कर रहे। अगर इतिहास को, अपने धर्म को ठीक से पढ़ भर लें तो बहुत सारी गलतफहमियाँ (या खुशफहमियाँ) दूर हो जाएं और इस्लाम के नाम पर मरने मारने वालों की जानें

बच जाएं। 2013 में जेहाद का कफन ओढ़कर बर्मिंघम के दो नौजवान यूसुफ सरवर और मोहम्मद अहमद जब अलकायदा की तरफ से सीरिया लड़ने गए तो जाने से पहले उन्होंने तीन किताबें खरीदीं– Arabic for Dummies, The Koran for Dummies और Muslim Marriage Guide (मूर्खों के लिए अरबी, मूर्खों के लिए कुरआन और मुस्लिम विवाह गाइड)। ऐसे लोगों को इस्लाम के बारे में कितना ठोस ज्ञान होगा ये उनकी किताबों की पसंद ही स्पष्ट कर देती है। जेहाद का दावा करने वाले ये लोग अपने आपको जो भी समझें, लेकिन इनके आतंक को मजहबी आइने से देखना भूल होगी।

ये लोग धर्म की उस बात से प्रभावित हो रहे हैं जो उसमें है ही नहीं, लेकिन सदियों से लोगों को इस्लाम अपने धार्मिक दर्शन से ही प्रभावित नहीं किया, बल्कि उसकी कोख से निकले गैर मजहबी खजानों यानी खूबसूरत इमारतों, उन पर फूल-पत्तियों की नक्काशी, साहित्य, कला, पोशाक आदि ने भी दुनिया को मालामाल कर दिया—मसलन : इस्लामी इतिहासकार मार्शल हॉड्सन ने इस्लाम की गैर-मज़हबी दौलत को इस्लामिकेट कहा और हम इसे इस्लामियत कह सकते हैं। फास्ट फूड दौर के ये इंस्टेन्ट मुजाहिदीन इंसान, इंसानियत, इस्लाम और इस्लामियत सबका खून कर रहे हैं।

खैर ये सब तो बाहर की बातें हैं। भारत में इस्लाम की जो पहचान बनाने की कोशिश की जा रही है, वो आतंकवाद पर ही नहीं रुकती। यहाँ इतिहास से क्रूर मुस्लिम बादशाह खोद निकाले जाते हैं जिन्होंने इनके इतिहास के अनुसार मंदिर तोड़कर मस्जिदें बनवाईं और हिंदुओं का जबरन धर्म-परिवर्तन किया। कुछ मुसलमान भी इन बादशाहों के कारनामों पर ऐसे इतराते हैं, जैसे उन्हें अपनी जागीर विरासत में दे गए हैं। ये किसी को नहीं दिखता कि मुसलमान बादशाह आमतौर से मुसलमान बादशाहों से ही जंग लड़कर गद्दी पर बैठे और कौम को तो छोड़िए, जब गद्दी की बात आई तो कभी अपने बाप की गुद्दी पकड़कर नजरबंद किया तो कभी अपने भाई को अंधा किया। जो अपने खानदान के ना हुए वो और किसी के क्या होंगे।

भारतीय मुसलमानों से एक शिकायत ये भी है कि एक संविधान के तहत रहते हुए भी वो अपना अलग पर्सनल लॉ बनाए बैठे हैं। बेचारे हिंदु पुरुष जहाँ एक शादी रचा पाते हैं वहीं मुसलमान चाहें तो चार-चार शादियाँ कर सकते हैं। अब उन्हें ये कौन बताए कि जहाँ मुसलमानों का अलग पर्सनल लॉ है वहाँ सभी धर्मों के मानने वाले अपने-अपने पर्सनल लॉ के अनुसार ही चलते हैं। अगर कोई नास्तिक है तब भी जिस धर्म में वो पैदा हुआ, उस पर वही कानून लागू होगा। इसलिए बेहतर होगा कि सिर्फ मुसलमानों को इस बात का दोषी ना माना जाए। वैसे मुसलमानों में मुझे ऐसे बहुत ही कम लोग मिले जो एक साथ दो-दो शादियां किए फिरते हैं, तीन और चार तो जाने दीजिए। मुसलमानों को अगर एक से ज्यादा शादियां करने से रोक भी दिया जाए तो जिन्हें करना है वो कर ही लेंगे। धर्मेंद्र और हेमा मालिनी जैसे लोग मेरी बात से सहमत होंगे।

लेकिन हिंदोस्तान, भारत, इंडिया, अल-हिंद जिस नाम से भी पुकारिए उसके मुसलमान आजकल इससे भी ज्यादा अहम मुद्दों से जूझ रहे हैं। मसलन रमज़ान मुबारक कहा जाए या रमादान करीम, अपनों को विदा करते हुए खुदा हाफिज कहा जाए या अल्लाह हाफिज! रमजान या रमादान वाली समस्या पैदा ही ना हुई होती अगर अंग्रेजी या देवनागरी में इसे लिखा ना जाता, क्योंकि अरबी लिपि में ये शब्द ज्वाद (या द्वाद) अर से ही लिखा जाएगा। फारसी के खुदा हाफिज को कुछ लोग इसलिए बदल देते हैं क्योंकि कुरआन अल्लाह का नाम है खुदा का नहीं, और खुदा हाफिज कहने से खुदा-ना-ख्वास्ता (अल्लाह-ना-ख्वास्ता?) रब नाराज ना हो जाए। मेरी नजर में इन मसलों का हल बहुत ही आसान है—जो चाहिए कहिए।

चमन में इख्तिलात ए रंगो बू से बात बनती है
हमीं हम है तो क्या हम हैं तुम्हीं तुम हो तो क्या तुम हो।

विकल्प तलाशता जीवन

(सच्चिदानन्द सिन्हा से धर्मेंद्र सुशांत की बातचीत)

[इस 27 सितंबर को सामयिक वार्ता के संस्थापक-संपादक किशन पटनायक की दसवीं पुण्य तिथि है। उनको याद करते हुए हम यहाँ 'प्रभात खबर', रांची में आज से नौ वर्ष पहले 27 सितंबर 2005 में छपा सच्चिदानन्द सिन्हा का किशनजी के बारे में दिया गया एक इंटरव्यू छाप रहे हैं। इस इंटरव्यू में सच्चिदाजी ने समाजवादी आंदोलन और भारतीय राजनीति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में किशन जी की भूमिका के बारे में अपने विचार रखे हैं। हमारे खयाल में यह इंटरव्यू अत्यंत संक्षेप में और अत्यंत सारगर्भित रूप में किशन जी की सारी राजनीति को समझाता है। इंटरव्यू धर्मेंद्र सुशांत ने लिया था।]

किशनजी के बारे में बताइए?

किशनजी से परिचय तो काफी पहले से था, उस परिचय को मित्रता नहीं कहा जा सकता। उनसे वास्तविक संपर्क 1980 में हुआ, हांलाकि पार्टी में हम लोग शुरू से साथ थे। 1948 में कांग्रेस से निकल कर सोशलिस्ट पार्टी बनी। बाद में सोशलिस्ट पार्टी और आचार्य कृपलानी की कृषक मजदूर प्रजा पार्टी को मिलाकर प्रजा सोशलिस्ट पार्टी बनाई गई, लेकिन यह ज्यादा दिन नहीं चल पाई। 1955 में जब राममनोहर लोहिया ने अलग सोशलिस्ट पार्टी बनाई तो उस समय भी मैं और किशनजी दोनों उसमें थे।

क्या किशनजी से सांगठनिक-वैचारिक एकजुटता की मुश्किलों पर बातचीत होती थी?

बातचीत तो होती ही थी। समाजवादी आन्दोलन में शुरू से बिखराव की समस्या रही। समान विचार वाले लोगों को भी एक जगह करने में भारी मेहनत करनी पड़ती थी और इसके बावजूद स्थायित्व संदिग्ध रहता था।

समाजवादी आंदोलन में शुरू में आनेवाले लोगों के लिए सत्ता एक माध्यम थी जिसके जरिए उनका उद्देश्य था समाज को बदलना, लेकिन जब बाद में आपसी झगड़े बढ़े तो कुछ लोग सत्ता में चले गये, लेकिन किशनजी उन लोगों में थे, जो हिंदुस्तान में समाजवादी विचारधारा को लेकर पार्टी बनाना चाहते थे। बाद में उन्होंने एक राजनीतिक संगठन बनाया जिसमें दस साल तक चुनाव नहीं लड़ने की बात थी। पहले काम करना फिर उसके आधार पर एक पार्टी बनाने की बात थी। इसमें व्यावहारिक तौर पर काफी मुश्किलें रहीं। लोग समय-समय पर अलग होते गए, लेकिन किशनजी उन लोगों में से थे, जिन्होंने प्रयास करना छोड़ा नहीं। वे दमे के मरीज थे। इसके बावजूद पूरे देश में घूम कर काम करते रहे। इधर जब वे ज्यादा अस्वस्थ होने लगे तो मैंने उनसे कहा कि अब आपको नहीं घूमना चाहिए, लेकिन वे सक्रिय रहना चाहते थे। जब समाजवादी आंदोलन के बहुतेरे लोग मौकापरस्ती और सत्तापरस्ती की ओर जा रहे थे, वह समाजवादी विचारधारा की पार्टी बनाने की कोशिश करते रहे।

एक संगठनकर्ता होने के अलावा किशनजी की एक बौद्धिक की भी भूमिका थी, वर्तमान भारतीय राजनीति के परिपेक्ष्य में उनकी क्या जगह है?

आज भारतीय राजनीति में एक ऐसा अबौद्धिक वातावरण है कि जिनका नाम राजनीति में ज्यादा उछलता है, वे पढ़ने-लिखने वाले लोग नहीं हैं। उनके किए हुए का क्या परिणाम होगा वे यह नहीं सोचते। किशनजी सोचने और चिंतन करनेवाले व्यक्ति थे। वे दृष्टि की जरूरत को समझते थे। इसलिए उनकी बौद्धिकता की निस्संदेह राजनीति के वर्तमान वातावरण में एक प्रेरक भूमिका हो सकती है। वस्तुतः किशनजी की जो पृष्टभूमि थी उसमें समाजवादी आंदोलन में ऐसे लोग थे, जो यह मानते थे कि तात्कालिक स्वार्थों से चालित होनेवाली घटनाओं की जगह सोच-समझ कर समाज को बदलने का उद्देश्य होना चाहिए। मार्क्स ने इतना लिखा, लेनिन ने इतना लिखा, ट्राटस्की को तो बहुत ज्यादा लिखने के कारण लोग 'पेन' तक कहते थे। रोज़ा लक्सम्बर्ग थीं उसने कैपिटल पर 'द एक्युमलेशन ऑफ कैपिटल' नामक महत्वपूर्ण किताब लिखी जिसकी भूमिका प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जोन रॉबिन्सन ने लिखी थी। हिन्दुस्तान में भी नरेन्द्रदेव ने 'बौद्धधर्म दर्शन' नामक विख्यात ग्रंथ की रचना की। ज्यादा तो नहीं पर जेपी ने भी लिखा। दरअसल विचार-विमर्श की एक अच्छी परंपरा थी। किशनजी इस विचार विमर्श की परंपरा में थे। वे मानते थे कि किसी काम के लिए दृष्टि का होना जरूरी है। अभी शून्यता की स्थिति है, अंधकार की स्थिति है। अभी के राजनीतिज्ञों को विचार से कोई मतलब नहीं है।

इस डिजनरेशन (अध:पतन) को किशनजी कैसे देखते थे?

वह इसके कठोर आलोचक थे। पहले काम करने की, खुद को डिक्लास करने की परंपरा थी। अब तो भोगवाद है। आजादी के बाद एक ऐसा सत्तावादी समूह पैदा हुआ है, जो भयानक भोगवादी है। लालू प्रसाद इसके उदाहरण हैं। नारा कुछ देते हैं लेकिन उनकी मंशा सत्ता भोगने की है। एक समय वह समाजवादी युवजन सभा में थे। उनकी बेटी की शादी थी।

रेडियो पर मैंने सुना, बीबीसी का रिपोर्टर कह रहा था कि पिछले सौ सालों में ऐसी भव्य शादी नहीं हुई। तो यह राजाओं-महाराजाओं की नकल करना पतन है। मुलायम सिंह ने भी ऐसा ही किया। मायावती को देखिए। अब तो यह ढर्रा चल पड़ा है कि आप सत्ता में पहुंच कर सामंतों की तरह आचरण करने लगते हैं।

जर्मनी में फासीवाद का उत्थान इसी तरह हुआ था। नारा गरीबों के लिए और हित रक्षा अमीरों की। ऐसा यहां भी है। गरीबों के साथ किस तरह का जुल्म नहीं हो रहा है, आजकल! अभी तो राजनीति में आपराधिक किस्म के लोगों का प्रभुत्व है। उनके हाथ में कानून है, लाठी है। वे कमजोरों पर कानून थोपते हैं और खुद उससे मुक्त रहते हैं। किशनजी इन चीजों की आलोचना तो करते ही थे, साथ ही इनको खत्म करनेवाली वैकल्पिक राजनीति के पक्षधर थे।

इतने निराशाजनक माहौल में मूल्यों की सुनता कौन है? कब ऐसी चीजों का असर होता है?

सब कुछ केवल नकारात्मक होता तो हम आशा छोड़ देते। दबाव में सरकार को शर्म के मारे ही कुछ करना पड़ता है। संगठित राजनीतिक दलों के रूप में तो सब नकारात्मक दिखाई पड़ता है। लेकिन कोई घटना होती है तो लोग सड़क जाम कर देते हैं। ऐसी चीजों से एक भावना बनी है कि आम जनों को आप उपेक्षित नहीं छोड़ सकते। जैसे औरतों पर घरेलू हिंसा के खिलाफ जो बात उठी या सूचना के अधिकार की जो बात है, यह उसी दबाव का नतीजा है। भीतर-भीतर लोकतंत्रीकरण की एक प्रक्रिया चल रही है। इसे सत्ताधारी वर्ग के उत्तरदायित्व को महसूस करने का नतीजा नहीं मान सकते, बल्कि उस दबाव का नतीजा मानते हैं जो अनेक जनांदोलनों से बना। इसी में यह उपयोगिता दिखती है कि लोक शक्ति के दबाव से कुछ लोकतंत्रीकरण होता है। गोहाना में जो हुआ (दलितों के घर जला देने की घटना) उस पर जो प्रतिक्रिया अभी हुई, वैसे बहुत पहले नहीं होती थी, यह इस जागरूकता का नतीजा है। किशनजी और उनके जैसे दुसरे लोग इन साधारण चीजों की संभावना को समझते थे और इसीलिए उन्हें महत्वपूर्ण मानते थे।

लेकिन ऐसे लोग क्या अकेले नहीं पड़ते जा रहे हैं?

अकेले पड़ रहे हैं, ऐसा मैं नहीं कहूंगा। जो दिखाई देता है सिर्फ उसे सच मान लेने से ऐसा सोचा जा सकता है। लेकिन जो धूर्त लोग सत्ता में हैं उनकी उपस्थिति में यदि ऐसा कानून बन रहा है कि सूचना का अधिकार सबको मिले, महिलाओं पर हिंसा रुके, तब इनके पीछे जो शक्तियां हैं, वे कहां से आ रही हैं? तब आप नहीं कहेंगे कि ऐसे लोग अकेले पड़ते जा रहे हैं। मनमोहन सिंह को कहीं से सपना तो नहीं आया था बल्कि इन्हीं शक्तियों का दबाव था कि ऐसे कानून बने। वास्तव में आपकी बातों में दम है। बातें निरर्थक नहीं हो सकतीं, बात अंतरिक्ष में खो नहीं जातीं। लोहिया ने कहा था, 'मेरी बातें मेरे मरने के बाद लोग समझेंगे।' घोड़ा अपनी अगली पीढ़ी के लिए कुछ नहीं छोड़ता लेकिन आदमी छोड़ता है। विचार कभी नहीं मरता। डायलॉग चलता रहता है।

बुद्धिजीवियों की क्या भूमिका है?

आखिर जब आप मानते हैं कि कोई चीज महत्वपूर्ण है, तो वह स्थापित होनी चाहिए। बर्नार्ड शा ने कहा था कि दुनिया का सारा महान साहित्य प्रोपोगंडा है। अगर कोई बौद्धिक है तो उसकी जवाबदेही बन जाती है कि वह साहस के साथ अपनी बात रखे ,कम्युनिकेट करे। हम जो सोचते हैं कि वह लोगों के विपरीत हो सकता है, लेकिन उसकी प्रतिक्रिया को झेलते हुए भी आपको उसे कहना होगा। ऐसी बात कहने का क्या मतलब है, जिसे पहले से लोग मानते रहे हों? धारा के विपरीत चलना कर्तव्य है। नहीं तो बौद्धिक होने का कोई मतलब नहीं है। किशनजी इसके श्रेष्ठ उदाहरण थे। कोई भी विचार कैसे फैलता है, यह देखना होगा।

किशनजी विकल्प के बारे में क्या सोचते थे?

विकल्पहीनता के विरुद्ध जो उनका जोर था, उसका परिपेक्ष्य यही था—यह जो ग्लोबलाइजेशन है, साम्राज्यवाद है, वह अंतिम सत्य नहीं है, इसका विकल्प है। 1989 में फूको ने 'इतिहास का अंत' कर दिया सोवियत संघ के पतन के बाद। इसके बाद सैमुएल हटिंग्टन की किताब आई 'सभ्यताओं का संघर्ष', जिसमें खासकर इस्लाम को केन्द्र में रखा गया। फूको कहता है कि कहीं कोई विरोध नहीं है, लेकिन 1991 में अमेरिका युद्ध में उलझ गया। अमेरिकी वर्चस्ववाद की बौद्धिक तरफदारी साम्राज्यवाद को और ग्लोबलाइजेशन को उचित बताती है, लेकिन समाजवादी जन परिषद की मान्यता है कि गोबलाइजेशन समाधान नहीं बल्कि समस्या है। वह इसके खिलाफ अलग व्यवस्था की बात करती है। इसलिए किशनजी हमेशा एक विकल्प की बात करते थे, जिसके बारे में उनकी स्पष्ट समझ थी। उन्होंने अपनी किताब का नाम ही रखा–'विकल्पहीन नहीं है दुनिया'।

किशनजी छोटे आन्दोलनों को एकजुट करने के लिए लगातार सक्रिय रहते थे । उनके बीच मतभेदों को खत्म करने या कम करने के लिए वे क्या करते थे ?

सर्वप्रथम जो चीज है वह है आम लोगों की चिन्ता। किशनजी सारी बातें इसी को ध्यान में रख कर करते थे। बिहार में उन्होंने माले को साथ लेने की बात कही, जबकि उससे वैचारिक मतभेद थे। मैं खुद माले का आलोचक रहा हूं। मेरी आलोचना थी कि रूस व चीन के ऐतिहासिक अनुभवों से माले ने कुछ सीखा नहीं। चीन में 1949 में क्रांति शुरू हुई। वहां की स्थिति तब दूसरी थी। आज भारत में ऐसी स्थिति नामुमकिन है क्योंकि सत्ता के पास सारी सशस्त्र ताकत है। हिंसा की राजनीति खुद को पराजित करनेवाली होती है। इससे शासन तंत्र को जो खुद बड़ा हिंसक है, अत्याचार और दमन करने का बहाना मिल जाता है, आज की व्यवस्था और नौकरशाही इतनी अमानवीय हो गई है कि उसका प्रतिरोध हिंसा से नहीं किया जा सकता।

इसलिए माले के साथ के मतभेदों से ज्यादा जरूरी सवाल यह है कि पहले एकजुटता बने। मैंने खुद माले की प्रशंसा भी की है कि उसके लोग दलितों-पिछड़ों के बीच जा कर काम कर रहे हैं ।

हमारी मान्यता है कि जो छोटी राजनीतिक इकाइयां हैं, वे जनतांत्रिक होंगी। बड़ा ढांचा बनाएंगे तो नौकरशाही रहेगी और वह तो संवेदनहीन होती ही है। वह खुद की सुविधा बनाए रखती है लेकिन आम लोगों की, नीचे के लोगों की समस्या पर ध्यान नहीं देती। किशनजी कहते थे कि हमारी समझ यह होनी चाहिए कि नौकरशाही, जो असंवेदनशील होती है, उसके ऊपर जो लुटेरे राजनीतिक नेता हैं, उन पर रोक लगे। इसके लिए छोटे-छोटे जनांदोलनों की आपसी एकजुटता का महत्व वे समझते थे।

गांधीजी के प्रति उनका सोच बड़ा सकारात्मक था, ऐसा क्यों?

अंतिम दौर में वे गांधीजी के विचारों से प्रभावित थे। गांधीजी को ज्यादा पढ़ने लगे थे। गांधीजी के विचारों से पूरी दुनिया का स्वरूप बदल सकता है। पेट्रोलियम के दाम की बात लें। कोई यह नहीं कहता कि आखिर इतनी मोटरें क्यों? एक अर्थशास्त्री था ई.एफ. शूमाखर। वह जर्मन था। वह कींस का शिष्य था। उसने एक किताब लिखी 'स्मॉल इज ब्युटिफुल'। इसमें उसने छोटी इकाइयों की तरफदारी की थी। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद इंग्लैण्ड में जब लेबर पार्टी सत्ता में आई तो उसने कोयला उद्योग के राष्ट्रीयकरण के मामले में शूमाखर को सलाहकार बनाया था। उसने ध्यान दिलाया था कि कोई भी अर्थशास्त्री पूंजी और आय को नजरअन्दाज करके नहीं चल सकता। जब हम धरती की बात करते हैं तो कोयला पानी को आय नहीं कहेंगे। यह पूर्व की जमा राशि है, वह चुक सकती है। उससे सदा के लिए इंतजाम नहीं हो सकता। गांधीजी ने कहा था कि दुनिया में हर आदमी की जरूरत को पूरा करने लायक काफी चीजें है, लेकिन एक व्यक्ति की लोलुपता को वह पूरा नहीं कर सकती। शूमाखर ने गांधीजी को उद्धृत किया था। किशनजी गांधीजी के महत्व को समझते थे। वह कहते थे कि हम लोग जिन समस्याओं से आज टकरा रहे हैं उनके बारे में 20वीं सदी के शुरू में गांधीजी ने हमारा ध्यान खींचा था। आइंस्टाइन ने गांधीजी के बारे में कितनी बड़ी बात कही थी कि वे अप्रासंगिक नहीं हैं। किशनजी ने गाँधी जी के बातों का महत्व समझा था।

अंत में किशनजी के बारे में अपनी तरफ से कुछ और कहना चाहेंगे ?

और कुछ तो नहीं, यही कहूंगा कि उनमें काफी धैर्य था। हम लोग बहुत-सी चीजों को लेकर उत्तेजित हो जाते हैं। ऐसा उनमें दिखाई नहीं देता था। पॉलिटिकल आदमी जल्द रिएक्ट करता है, लेकिन उन्हें मैंने कभी जल्द रियेक्ट करते नहीं देखा। उनमें अपार धैर्य था।❑

निर्धन हो या हो धनवान, सबकी शिक्षा एक समान

समाजवादी जनपरिषद द्वारा 'मुफ्त, अनिवार्य एवं समान शिक्षा' विषय को लेकर दिनांक 06-09-2014 से 08-09-2014 तक कार्यशाला का आयोजन किया गया। 'अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच' के तत्वावधान में दिनांक 02 नवम्बर 2014 से प्रारम्भ होने वाली राष्ट्रस्तरीय शिक्षा संघर्ष यात्रा के कार्यक्रम पर विचार मन्थन हुआ।

यात्रा 14 वर्ष से अनवरत अनशन कर रही संघर्षशील साथी इरोम शर्मीला के सैन्य बल विशेषाधिकार कानून (आफ्सपा) को हटाने की मांग के समर्थन में 02 नवम्बर 2014 से प्रारम्भ हो कर, भोपाल गैस कांड की 30वी वर्षगांठ पर भोपाल में 3 दिसंबर, 2014 को खत्म होगी।

कार्यशाला में मुख्य रूप से यह निर्णय लिया गया कि शिक्षा सभी के लिए समान, मुफ्त एवं अनिवार्य हो और संवैधानिक मूल्यों के अनुरूप हो इसके लिए प्रदेश में अभियान चलाया जाएगा।

पहले सत्र में 'समान शिक्षा से ही समाजवादी समाज की बुनियाद रखी जा सकती है' विषय पर विस्तार से दिल्ली से पधारी प्रोफेसर मधु प्रसाद, सदस्य राष्ट्रीय कार्यकारिणी, अभाशिअम, ने अपने विचार रखे। सर्व सेवा संघ के पूर्व अध्यक्ष अमरनाथ भाई, आजादी बचाओ आंदोलन के अध्यक्ष मनोज त्यागी, समाजवादी जनपरिषद के वरिष्ठ साथी प्रो. महेश विक्रम सिंह , समतावादी नेता चौधरी राजेंद्र, मुनीजा रफीक खान, डॉ. नीता चौबे, जागृति राही ने चर्चा को आगे बढ़ाया। दूसरे सत्र में कार्यक्रम के स्वरूपों पर चर्चा हुई। अखिल भारत शिक्षा संघर्ष यात्रा की समन्वयक गुड्डी एस. एल. ने चर्चा के बिन्दुओं को सूत्र-वार रखा व पूर्वांचल छात्र संघर्ष समिति के अरविन्द गिरि, आइसा की कु. शिखा सिंह व अजित, स ज प के साथी बलवंत यादव, राष्ट्रीय सचिव अफलातून, प्रदेश अध्यक्ष विक्रमा मौर्य व विद्यार्थी युवजन सभा के शैलेश मौर्या की भागीदारी उल्लेखनीय रही।

कार्यशाला के अन्तिम सत्र में माध्यमिक शिक्षक संघ के नेता एवं विधायक श्री चेतनारायण सिंह ने इस अभियान की आवश्यकता पर बल देते हुए इसमें पूर्ण समर्थन देने तथा माध्यमिक शिक्षकों के सहयोग की अपेक्षा की। आयोजन की संयोजिका समाजवादी जनपरिषद की डॉ. स्वाति के साथ ही अभाशिअम के संगठन सचिव हैदराबाद से आये श्री रमेश पटनायक ने यात्रा के स्वरूप व उद्देश्य पर चर्चा की। आइसा के प्रदेश अध्यक्ष सुधांशु, जय प्रकाश आंदोलन की पुतुल व आशा संगठन के वल्लभाचार्य ने विचार व्यक्त किये।

वर्तमान में शिक्षा के बाजारीकरण और साम्प्रदायकीकरण के कारण समाज में बढ़ते हुए गैरबराबरी के खतरे को देखते हुए के.जी. से पी.जी. तक के लिए शिक्षा की समान व्यवस्था और राज्य द्वारा उसका पूर्ण उत्तरदायित्व वहन किए जाने की मांग की गयी और स्कूल-कालेज और विश्वविद्यालयों के निजीकरण को रोकने एवं सरकार द्वारा जनता के पैसे को प्रकारान्तर से निजी शिक्षण संस्थानों पर खर्च किए जाने के षडयन्त्र के विरुद्ध सर्वसम्मति से लोगों को जागरूक करने और सरकार पर दबाव डालने के लिए देशव्यापी अभियान को मजबूत करने का निर्णय लिया गया।

–प्रो. महेश विक्रम सिंह

बीमा क्षेत्र में विदेशी पूंजी निवेश

अर्जुन प्रसाद सिंह

हाल के वर्षों में वैश्विक आर्थिक संकट के हमारे देश पर पड़ रहे प्रभावों (खासकर घटती विकास दर) से निबटने के लिए भारत सरकार ने अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों को विदेशी निवेश के लिए ज्यादा से ज्यादा खोलने की नीति पर अमल करना शुरू कर दिया है। मनमोहन सिंह नीत यूपीए सरकार ने पहले ही औद्योगिक, कृषि एवं सेवा क्षेत्रों से जुड़ी आर्थिक गतिविधियों में 51 प्रतिशत से 100 प्रतिशत तक विदेशी निवेश करने की इजाजत दे दी है। हाल ही में इसने बहुब्राण्ड खुदरा व्यापार जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्र में भी 51 प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) की अनुमति दी है।

नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में नवगठित एनडीए सरकार ने उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्वीकरण की पूर्व नियोजित प्रक्रिया को तेज करने का बीड़ा उठाया है। ध्यान देने की बात है कि साम्राज्यवादी सरगना अमेरिका एवं अन्य साम्राज्यवादी देश मनमोहन सरकार पर लगातार आरोप लगा रहे थे कि वह 'दूसरी पीढ़ी के सुधारों' को लागू करने में अनावश्यक देर कर रही है। शायद इसीलिए उन्होंने नरेन्द्र मोदी को पसंद किया है और नरेन्द्र मोदी सरकार ने अपनी पूंजीवादी-साम्राज्यवादी वफादारी का परिचय देते हुए अपने कार्यकाल के मात्र डेढ़ माह के अन्दर बीमा एवं रक्षा के क्षेत्रों में एफडीआई की 26 प्रतिशत की सीमा को बढ़ाकर 49 प्रतिशत तक करने का प्रस्ताव किया। वित्त मंत्री अरूण जेटली ने 10 जुलाई, 2014 को संसद में बजट 2014-15 को पेश करते हुए कहा कि बीमा क्षेत्र में निवेश की कमी है और क्षेत्र के व्यापक विस्तार की जरूरत है, इसलिए इस क्षेत्र में विदेशी निवेश की सीमा को 49 प्रतिशत करना जरूरी है। साथ ही, उन्होंने आशा व्यक्त की कि विदेशी निवेश की सीमा बढ़ाने से बड़े पैमाने पर विदेशी निवेश होगा, इस क्षेत्र का काफी विस्तार होगा और बेरोजगारों को काम के अवसर प्राप्त होंगे। आर्थिक मामलों की कैबिनेट कमिटी ने वित्त मंत्री अरूण जेटली के उक्त प्रस्ताव पर 24 जुलाई, 2014 को अपनी मुहर लगा दी। इसके बाद बीमा कानून (संशोधन) बिल को संसद के वर्तमान बजट सत्र में ही पारित कराने की पुरजोर कोशिश की जा रही है, और केन्द्रीय कानून मंत्रालय इस बिल को अंतिम रूप प्रदान करने में लगा हुआ है। सरकारी स्रोतों के मुताबिक इस बिल में ऐसा प्रावधान किया गया है कि बीमा क्षेत्र में विदेशी निवेश की वर्तमान 26 प्रतिशत की सीमा को बढ़ाकर 49 प्रतिशत कर दिया जायेगा। इसमें संस्थागत विदेशी निवेश भी शामिल होगा। यह विदेशी निवेश प्रोमोशन बोर्ड की अनुमति से होगा। इसके लिए इच्छुक विदेशी कम्पनियों को विधिवत आवेदन देना होगा। साथ ही साथ, वे अपना संयुक्त उद्यम भी स्थापित कर सकेंगे, लेकिन इस संयुक्त उद्यम का पूर्ण नियंत्रण भारतीय कम्पनियों के पास रहेगा।

बीमा क्षेत्र का फैलता कारोबार

हमारे देश का बीमा कारोबार अभी करीब 60 बिलियन (एक बिलियन यानि सौ करोड़) डॉलर का है और निकट भविष्य में इसमें काफी विकास की गुंजाईश है। जीवन बीमा काउन्सिल के अनुसार 2008 से लेकर 2012 तक जीवन बीमा क्षेत्र में सालाना करीब 13 प्रतिशत की वृद्धि हुई है और 2013 से 2017 तक 12 से 15 प्रतिशत तक वृद्धि की संभावना है। हमारे देश में कुल 24 जीवन बीमा कम्पनियां और 28 गैर जीवन (जनरल) बीमा कम्पनियां कार्यरत है। लेकिन अब तक इन सबों की केवल 22 प्रतिशत बीमा लायक आबादी तक पहुंच हो पाई है। जीवन बीमा क्षेत्र में एक सरकारी कम्पनी (लाइफ इन्श्योरेन्स कॉरपोरशन-एलआईसी) है और शेष 23 निजी क्षेत्र की कम्पनी। एलआईसी का अकेले जीवन बीमा कारोबार के 70 प्रतिशत हिस्से पर नियंत्रण है और इसके शेष 30 प्रतिशत हिस्से में 23 निजी कम्पनियों की भागीदारी है। एलआईसी के पास करीब 8 ट्रिलियन (एक ट्रिलियन बराबर हजार बिलियन) रूपये की कुल सम्पत्ति है, जबकि निजी बीमा कम्पनियां पूंजी के संकट से जूझ रही हैं। काफी कोशिशों के बावजूद इन सभी कम्पनियों का सालाना जीवन बीमा प्रीमियम हमारे देश में सकल घरेलू उत्पाद का करीब 3.2 प्रतिशत ही हो पाया है, जबकि जापान एवं आस्ट्रेलिया में यह 10 प्रतिशत एवं 6 प्रतिशत के करीब है। यही कारण है कि ये कम्पनियां बीमा क्षेत्र में विदेशी निवेश की सीमा को 26 प्रतिशत से बढ़ाकर 49 प्रतिशत और यहांतक कि 74 प्रतिशत तक करने की मांग करती रही हैं। अभी वे नवगठित नरेन्द्र मोदी सरकार के विदेशी निवेश बढ़ाने के फैसले से काफी उत्साहित हैं और भारतीय शेयर बाजार में सूचीबद्ध निजी बीमा कम्पनियों के शेयरों की कीमतों में करीब 10 प्रतिशत तक की वृद्धि दर्ज हुई है। उन्होंने मोदी सरकार के इस निर्णय से यह उम्मीद बांधी है कि जब उनके

साथ मिलकर विदेशी कंम्पनियां बीमा क्षेत्र में ज्यादा पूंजी लगायेंगी तो वे सरकारी कम्पनी एलआईसी से प्रतियोगिता करने में सक्षम हो पायेंगी।

ज्ञातव्य है कि फिलहाल कई विदेशी कम्पनियां भारतीय कम्पनियों के साथ संयुक्त उद्यम कायम कर भारतीय बीमा बाजार पर अपना कब्जा जमाने की पूरी कोशिश कर रही हैं। जीवन बीमा के क्षेत्र में कार्यरत संयुक्त उद्यमों का विवरण इस प्रकार है-

संयुक्त निजी बीमा कम्पनी के नाम	विदेशी भागीदारी का प्रतिशत	विदेशी भागीदार कम्पनी
आलियांज बजाज लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी लिमि.	26	आलियांज, जर्मनी
बिरला सन लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी लि.	26	सन लाइफ, कनाडा
एचडीएफसी स्टैण्डर्ड लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी लि.	18.60	स्टेन्डर्ड लाइफ, ब्रिटेन
आईसीआईसीआई प्रूडेन्सियल लाईफ इन्श्योरेन्स कम्पनी लि.	26	प्रूडेन्सियल, यूके
आईएनजी वाइस्या लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी लि.	26	आईएनजी, नीदरलैंडस
मैक्स न्यूयार्क लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी लि.	26	न्यूयार्कलाइफ, अमेरिका
मेटलाइफ इण्डिया इन्श्योरेन्स कम्पनी लि.	25.99	मेटलाइफ, अमेरिका
ओम कोटक महिन्द्रा लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी लि.	26	ओल्ड म्यूचूअल, द.अफ्रीका
एसबीआई लाइफ इन्श्योरन्स कम्पनी लि.	26	कारडिफ, फ्रांस
टाटा एआईजी लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी लि.	26	एआईजी, अमेरिका
एएमपी सन्मार लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी लि.	26	एएमपी, आस्ट्रेलिया
डाबर सीजीयू लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी लि.	26	सीजीयू, आस्ट्रेलिया
भारती एएक्सए लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी लि.	26	एएक्सए, फ्रांस
रिलायंस लाइफ इन्श्योरेन्स कम्पनी लि.	26	निप्पोन, जापान

इनके अलावा कई ऐसे संयुक्त उद्यम गैर जीवन (जनरल) बीमा क्षेत्रों में भी कार्यरत हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है:-

संयुक्त बीमा कम्पनियों के नाम	विदेशी भागीदारी का प्रतिशत	विदेशी भागीदार कम्पनी
रॉयल सुन्दरम एलायन्स इन्श्योरेन्स क. लि.	26	रॉयल सन एलायन्स, यूके
इफ्फको टोकियो जेनरल इन्श्योरेन्स क. लि.	26	टोकियो मेरिन, जापान
टाटा एआईजी जेनरल इन्श्योरेन्स क. लि.	26	एआईजी, अमेरिका
बजाज आलियांज जेनरल इन्श्योरेन्स क. लि.	26	अलियांज, जर्मनी
एचडीएफसी सीएचयूबीबी जेनरल इन्श्योरेन्स क. लि.	26	सीएचयूबीबी, अमेरिका
आईसीआईसीआई लोमबार्ड लाईफ इन्श्योरेन्स क. लि.	25.74	लोमबार्ड, कनाडा

इन संयुक्त उद्यमों के अतिरिक्त गैर जीवन बीमा क्षेत्र में दो अन्य प्रमुख निजी कम्पनियां कार्यरत हैं: रिलायंस जनरल इन्श्योरेन्स कम्पनी और चोलामण्डलम जनरल इन्श्योरेन्स कम्पनी। उपर्युक्त सभी निजी बीमा कम्पनियां और संयुक्त उद्यम सार्वजनिक क्षेत्र की 5 बीमा कम्पनियों के साथ भारतीय बीमा बाजार में होड़ कर रही हैं। वे 5 सरकारी कम्पनियां हैं– लाइफ इन्श्योरेन्स कॉरपोरशन ऑफ इण्डिया (एलआईसी), नेशनल इन्श्योरेन्स कम्पनी लिमिटेड, न्यू इण्डिया एश्योरेन्स कम्पनी लिमिटेड, यूनाईटेड इण्डिया इन्श्योरेन्स कम्पनी लिमिटेड और जनरल इन्श्योरेन्स कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया। बीमा क्षेत्र में विदेशी निवेश की सीमा 49 प्रतिशत तक बढ़ाने से निश्चित ही निजी बीमा कम्पनियों एवं उक्त संयुक्त उद्यमों को भारतीय बीमा बाजार पर अपनी पकड़ मजबूत करने में मदद मिलेगी।

निजी बीमा कम्पनियों एवं संयुक्त उद्यमों की प्रतिक्रियायें

मोदी सरकार द्वारा बीमा क्षेत्र को विदेशी निवेश के लिए और ज्यादा खोलने का स्वागत करते हुए एचडीएफसी लाइफ के सीईओ अमिताभ चौधरी ने कहा, 'सत्ता में आने के 6 सप्ताह के दौरान सरकार ने स्पष्ट कर दिया है कि उसका इरादा क्या है।... अब स्टैण्डर्ड लाइफ अपने संयुक्त उद्यम में 26 प्रतिशत से ज्यादा पैसा लगाने को अभिमुख होगा।' डीएचएफएल अमेरिका लाइफ के सीईओ अनूप पब्बी ने आशा जाहिर की कि 'बीमा क्षेत्र में विदेशी निवेश की सीमा बढ़ाने से विदेशी प्रोमोटरों (प्रवर्तकों) से जरूरी विकास पूंजी प्राप्त होगी और भारतीय ग्रामीण बाजारों में बीमा क्षेत्र की पहुंच गहरी होगी।' टाटा एआईजी जनरल इन्श्योरेन्स के सीईओ के.के. मिश्रा ने टिप्पणी की कि 'इससे

विदेशी निवेश को प्रोत्साहन मिलेगा और बीमा क्षेत्र को उत्पाद प्रवर्तन, वितरण एवं ग्राहक सेवा संरचना में फायदा होगा।' इसी प्रकार एडेल्वेस टोकियो लाइफ इन्श्योरेन्स के सीईओ दीपक मित्तल ने कहा कि 'विदेशी निवेश की सीमा बढ़ाने से बीमा क्षेत्र का विकास होगा, जो सरकारी ऋण एवं अधिसंरचना के क्षेत्रों में निवेश को बढ़ावा देगा।' पीएनबी मेटलाइफ के सीईओ तरूण चुघ ने प्रतिक्रिया व्यक्त की कि 'सरकार द्वारा बीमा क्षेत्र में विदेशी निवेश की सीमा को बढ़ाने के प्रस्ताव से हम उत्साहित हैं, लेकिन अभी सरकारी प्रस्ताव का पूर्ण विवरण आना बाकी है।'

केपीएमजी (इण्डिया) के पार्टनर शाश्वत शर्मा ने कहा कि अगर सरकार बीमा क्षेत्र में भारतीय प्रोमोटरों के नियंत्रण की स्थिति को स्पष्ट करेगी तो विदेशी कम्पनियां जीवन बीमा, स्वास्थ्य बीमा एवं जेनरल बीमा के क्षेत्र में 20 से 25 हजार करोड़ रुपये का तत्काल निवेश करेगीं। मैक्स लाइफ इन्श्योरेन्स के सीईओ राजेश सूद ने कहा कि बीमा क्षेत्र में विदेशी निवेश की सीमा बढ़ाने से इस क्षेत्र के लिए लम्बी अवधि की पूंजी उपलब्ध होगी, जो इसके विकास के लिए अत्यावश्यक है। भारतीय उद्योगपतियों के संघ फिक्की ने आशा व्यक्त की कि सरकार के इस निर्णय से विदेशी खिलाड़ी बीमा के साथ-साथ पेंशन क्षेत्र में भी प्रवेश करेंगे और देश के लिए जरूरी विदेशी पूंजी का निवेश करेंगे। (चूंकि हमारे देश के पेंशन फंड कानून ने पेंशन क्षेत्र में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की सीमा को बीमा क्षेत्र से सम्बद्ध कर लिया है। अगर बीमा क्षेत्र में विदेशी निवेश की सीमा बढ़ाकर 49 प्रतिशत करने का कानूनी संशोधन हो जायेगा तो स्वतः पेंशन क्षेत्र में भी विदेशी निवेश की सीमा बढ़कर 49 प्रतिशत हो जायेगी।) भारतीय बीमा कारोबार में शामिल कारपोरेट घरानों ने अनुमान किया है कि विदेशी निवेश की सीमा बढ़ने से केवल एक साल में बीमा क्षेत्र में 2 बिलियन डॉलर के करीब विदेशी निवेश होगा।

विपक्षी दलों की भूमिका

कांग्रेस आमतौर पर मोदी सरकार द्वारा बीमा क्षेत्र में विदेशी निवेश की सीमा को बढ़ाने के प्रस्ताव का नीतिगत विरोध करती नजर नहीं आ रही है। ऐसा इसलिए है कि यूपीए सरकार ने भी बीमा क्षेत्र में विदेशी निवेश की सीमा को 49 प्रतिशत तक बढ़ाने की कोशिश की थी, जिसमें उसे सफलता नहीं मिली थी। विडम्बना है कि उस समय भाजपा ने यूपीए सरकार की इस कोशिश का पुरजोर विरोध किया था। संसदीय वाम दल एवं उनसे जुड़े मजदूर संघ/महासंघ मोदी सरकार की इस पहल का नीतिगत विरोध कर रहे हैं। अन्य विपक्षी दल जैसे बसपा, समाजवादी पार्टी, जनता दल (यूनाइटेड), तृणमूल कांग्रेस, राजद, द्रमुक और अनाद्रमुक ने भी मोदी सरकार के इस प्रस्ताव का विरोध किया है। इन दलों ने प्रस्तावित बीमा कानून (संशोधन) विधेयक को राज्य सभा की प्रवर समिति के पास भेजने पर सहमति जताई है। 1 अगस्त, 2014 को कांग्रेस समेत 9 दलों ने इस सम्बंध में राज्य सभा के सभापति को एक नोटिश भी भेजा है। हालांकि, कांग्रेस के प्रवक्ता अभिषेक सिंघवी ने कहा है कि 'रास्ता निकालने के लिए प्रवर समिति सबसे अच्छा माध्यम है।' उन्होंने यह भी कहा कि उनकी पार्टी सैद्धान्तिक रूप से इस विधेयक का विरोध नहीं कर रही है, लेकिन चूंकि यह 60 पन्नों का विधेयक है और इसमें कई बदलाव (करीब 77) किये गए हैं, इसलिए बेहतर होगा कि प्रवर समिति इसका अध्ययन करे। कांग्रेस पार्टी खासकर संस्थागत विदेशी निवेश को भी शामिल करने सम्बंधी संशोधन पर स्थिति साफ करना चाहती है। ज्ञातव्य है कि पी. चिदम्बरम (पूर्व वित्त मंत्री) ने इस विधेयक का स्वागत किया है। इस तरह के अन्तर्विरोधी बयान कांग्रेस पार्टी के राजनीतिक दिवालियेपन को दर्शाती है।

गौरतलब है कि मोदी सरकार इस विधेयक को इसी सत्र में राज्य सभा में पेश करना चाहती है, जहां उसे बहुमत का समर्थन मिलना संभव नहीं है। अगर कांग्रेस अपनी पुरानी समझदारी पर खड़ी होती है तो राज्य सभा में भी यह विधेयक पारित हो सकता है। लेकिन फिलहाल कांग्रेस अन्य विपक्षी दलों का साथ नहीं छोड़ना चाहती है। इस हालत में इस सत्र में बीमा कानून (संसोधन) विधेयक का पारित होना संभव नहीं दिखता है।

बीमा क्षेत्र को विदेशी निवेश के लिए खोलने का प्रयास

भारतीय शासक वर्ग एवं उनकी केन्द्र सरकार द्वारा बीमा क्षेत्र को विदेशी निवेश के लिए खोलने का प्रयास करीब डेढ़ दशक पहले ही शुरू किया गया था। उस समय केन्द्र में अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में राजग सरकार मौजूद थी। वाजपेयी सरकार ने 1999 में मलहोत्रा कमिटी की सिफारिशों को स्वीकारते हुए बीमा कानून, 1938 में एक 'महत्वपूर्ण' संशोधन किया, जिसके तहत भारतीय बीमा क्षेत्र में किसी विदेशी कम्पनी को 26 प्रतिशत तक पूंजी लगाने की अनुमति दी गई–चाहे खुद के द्वारा या अपनी सहायक कम्पनियों या मनोनीत व्यक्तियों द्वारा। (ज्ञातव्य है कि नरसिम्हा राव सरकार ने बीमा क्षेत्र में 'सुधार' लाने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक के भूतपूर्व गवर्नर आर.एन. मलहोत्रा की अध्यक्षता में एक कमिटी का गठन अप्रैल, 1993 में किया था। इस कमिटी ने जनवरी 1994 में ही अपनी रिपोर्ट दे दी थी, जिसमें बीमा क्षेत्र को निजी एवं विदेशी निवेश के लिए खोलने

की सिफारिश की गई थी।) इसके बाद औद्योगिक नीति एंव प्रोत्साहन विभाग ने 19 अक्टूबर, 2000 को एक प्रेस नोट जारी किया, जिसमें यह स्पष्ट किया गया कि 26 प्रतिशत विदेशी निवेश की अनुमति ऑटोमेटिक एप्रूवल रूट के जरिये होगी, यानी किसी निवेशक को इसके लिए विदेशी निवेश प्रोमोशन बोर्ड के पास जाना नहीं होगा। वाजपेयी सरकार ने मलहोत्रा कमिटी के सुझावों के अनुसार ही बीमा उद्योग को नियंत्रित करने एवं इस क्षेत्र को प्रतियोगी बनाने के उद्देश्य से 1999 में बीमा नियामक एवं विकास प्राधिकरण (आईआरडीए) की स्थापना की। इस नवगठित संस्था ने पहली बार बीमा क्षेत्र को विदेशी निवेश के लिए खोला और अगस्त, 2000 में विदेशी कम्पनियों को पंजीकरण कराने हेतु आमन्वित किया।

इसके बाद इस क्षेत्र में निवेश करने को लालायित भारतीय एवं विदेशी पूंजीपतियों में होड़ मची। कई भारतीय कम्पनियों ने विदेशी कम्पनियों से मिलकर संयुक्त उद्यम बनाये (जिसका विवरण पहले दिया गया है) और इस आशा के साथ कि निकट भविष्य में भारत सरकार बीमा क्षेत्र में विदेशी निवेश की सीमा को बढ़ाकर 74 प्रतिशत तक करेगी, उनका पूरा कार्यकारी नियंत्रण अपने विदेशी पार्टनर को सौंप दिया। (हालांकि, विदेशी कम्पनियों के पास इतनी दक्षता एवं क्षमता है कि अपनी 26 प्रतिशत की हिस्सेदारी के बावजूद वे किसी संयुक्त उद्यम पर अपना वर्चस्व व नियंत्रण कायम कर सकती है।)

लेकिन भारतीय शासक वर्ग की केन्द्र सरकारें एक लम्बे अरसे तक बीमा क्षेत्र में विदेशी निवेश की सीमा को बढ़ाने की जद्दोजहद करती रहीं, जिसमें वे सफल नहीं हुईं। मनमोहन सिंह नीत यूपीए सरकार के वित्त मंत्री पी. चिदम्बरम ने जब 2004-05 के अपने बजट भाषण में बीमा क्षेत्र में विदेशी निवेश की सीमा को 49 प्रतिशत तक बढ़ाने का प्रस्ताव किया, तब भूतपूर्व प्रधान मंत्री और भाजपा के स्थापित नेता अटल बिहारी बाजपेयी ने कहा कि 'हम इसका विरोध करेंगें'। इसी तरह वाम दलों ने भी इस प्रस्ताव का विरोध किया और उन्होंने यूपीए के संचालकों को एक लम्बा खत लिखा । परिणामस्वरुप, तत्कालीन यूपीए सरकार (जिसमें वाम दल भी शामिल थे) ने इस मुददे को आगे नहीं बढ़ाया। फिर 2008 में मनमोहन सरकार ने विदेशी निवेश की सीमा को 49 प्रतिशत तक बढ़ाने के लिए एक बीमा कानून (संशोधन) विधेयक पेश किया, जिसका भाजपा एवं वामदलों समेत कई विपक्षी दलों ने जोरदार विरोध किया। नतीजतन, इस विधेयक को राज्य सभा मे नहीं ले जाया जा सका। इसके बाद भी यूपीए सरकार ने अपना प्रयास नहीं छोड़ा। इस सरकार के वित्त मंत्री लगातार कहते रहे कि 'हमारी सरकार बीमा और पेंशन क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की सीमा को बढ़ाने को कटिबद्ध है'। लेकिन बड़े-बड़े घोटलों में फंसने एवं विपक्षी दलों के तीव्र विरोध के चलेते यूपीए सरकार निजी एवं विदेशी पूंजी को सेवा करने के अपने इस लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकी। अन्ततः 16वीं लोकसभा चुनाव में कांग्रेस को बुरी तरह हार का सामना करना पड़ा। अब बीमा क्षेत्र में एफडीआई की सीमा को बढ़ाकर शासक वर्गों एवं विदेशी कम्पनियों को खुश करने का बीड़ा नरेन्द्र मोदी की सरकार ने उठाया है।

विदेशी निवेश की सीमा बढ़ाने के पक्ष में खोखले तर्क

बीमा क्षेत्र में विदेशी निवेश की सीमा को 49 प्रतिशत बढ़ाने के पक्ष में निम्न 6 तर्क दिये जा रहे है। पहला, यह कहा जा रहा कि विदेशी पूंजी आने से बीमा क्षेत्र में नई-नई कम्पनियों का प्रवेश होगा और करीब 125 करोड़ की महती भारतीय आबादी तक इस क्षेत्र में पहले से कार्यरत एवं नई शिरकत करने वाली कम्पनियों की पहुंच बढ़ेगी। दूसरा तर्क है कि अधिकांश निजी बीमा कम्पनियां पूंजी के संकट से जूझ रही हैं। ऐसे में अगर उन्हें विदेशी पूंजी के साथ गठजोड़ कर कोई संयुक्त बीमा कम्पनी चलाने का मौका मिलेगा तो वे सरकारी बीमा कम्पनियों से बीमा बाजार में प्रतियोगिता करने मे सक्षम होगीं। तीसरा तर्क है कि बीमा क्षेत्र में ज्यादा विदेशी पूंजी निवेश से इस क्षेत्र की अधिसंरचना में सुधार होगा, और इसमें नई-नई टेक्नोलॉजी एवं नये-नये बीमा उत्पादों का आगमन होगा। चैथा तर्क यह है कि इसमें बड़ी संख्या में रोजगार के अवसर प्राप्त होगें। पांचवां तर्क है कि इसका सीधा सकारात्मक असर पेंशन क्षेत्र पर पड़ेगा, क्योंकि उस क्षेत्र में भी विदेशी निवेश की सीमा बढ़कर 49 प्रतिशत हो जायेगी। छठा तर्क है कि विदेशी पूंजी आने से बीमा ग्राहकों को फायदा होगा, क्योंकि बीमा कम्पनीयों के बीच प्रतियोगिता बढ़ेगी और वे ग्राहकों के लुभाने के लिए बेहतर सेवा देने एवं बेहतर क्लेम सेटलमेंट करने को बाध्य होगीं।

आइए, अब हम उनके तर्कों के खोखलेपुन पर गौर करें जहां तक बीमा योग्य भारतीय जनता (खासकर तेजी से उभरते मध्य वर्ग) तक निजी एवं विदेशी बीमा कम्पनियों की पहुंच बढ़ाने की बात है, तो इसका असली मकसद जरूरतमंदों को लाभ पहुंचाना नहीं बल्कि इन कम्पनियों के मुनाफे को बढ़ाना है। फिर 1999 में बीमा क्षेत्र को विदेशी निवेशकों के लिए खोलते वक्त इसके विस्तार की जो उम्मीद की गई थी, उसके अनुसार परिणाम सामने नहीं आया। देश में कई बड़ी-बड़ी विदेशी कम्पनियों के आने के बाबजूद अभी तक अधिकांश जनता को बीमा के दायरे में लाया नहीं जा सका है। विदेशी पूंजी आने से पूंजी के संकट से जूझतीं

निजी बीमा कम्पनियों को अवश्य थोड़ी राहत महसूस होगी, लेकिन ये इस पूंजी का इस्तेमाल सरकारी बीमा कम्पनियों से बाजार छीनने में करेगीं। अगर इसमें ये सफल हो गईं तो निश्चय ही इनके उपभोक्ताओं को इसका बुरा नतीजा भुगतना पड़ेगा। ये कम्पनियाँ पश्चिमी जगत की तरह उन्हें विभिन्न प्रकार के कृत्रिम उत्पादों (खासकर यौवन एवं सौन्दर्य की रक्षा से सम्बन्धित) से परिचय करायेगीं और उनसे प्रीमियम की मनमाना राशि बसूल कर मालामाल होगीं। इसी प्रकार नई-नई तकनीक लाने और अधिसंरचना को बढ़ाने में भी ये कम्पनियां आमतौर पर नामायाब रहेगीं। हमारे देश के बीमा उपभोक्ताओं के आर्थिक-सामाजिक परिवेश को देखते हुए ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हमारे पास जो तकनीकि ज्ञान व सेवायें उपलब्ध है, उनसे बीमा उपभोक्ताओं को जोड़ने में कोई कठिनाई नहीं होगी। पिछले करीब डेढ़ दशक का अनुभव भी बताता है कि हमारे देश में कार्यरत विदेशी कम्पनियों ने बीमा क्षेत्र में कोई उच्च तकनीक मुहैया नहीं कराई है। वे हमारे देश की अधिसंरचना को सुधारने में भी कोई खास मदद नहीं कर सकती है क्योंकि 50 प्रतिशत से ज्यादा उनकी बीमा पालिसियां यूनिट-लिंक्ड होती है और बचतों के निवेश का अधिकार पालिसी होल्डर्स के पास होता है। आईसीआईसीआई प्रूडेन्सियल एवं बिरला सन लाइफ द्वारा बेची गई बीमा पालिसियां तो 80 से 90 प्रतिशत तक यूनिट-लिंक्ड होती हैं। जबकि एलआईसी जैसी सरकारी बीमा कम्पनी भारतीय बाजारों की सबसे बड़ी निवेशक है जो ऊर्जा उत्पादन, रोड ट्रांसपोर्ट, पेयजल आपूर्ति, आवास निर्माण और दूसरी सामाजिक गतिविधियों पर अरबों रूपये खर्च करती है। एक अनुमान के मुताबिक यह भारत सरकार के खर्चों का करीब 25 प्रतिशत फंड मुहैया कराती है। 2014 में इसने सरकारी प्रतिभूतियों, बांडों आदि में कुल 2,24,967.02 करोड़ रूपये खर्च किया है।

रोजगार उपलब्ध कराने में भी इन कम्पनियों का रिकॉर्ड काफी खराब है। ये कम से कम लोगों को रोजगार देकर अपने रनिंग कॉस्ट को कम करती है और ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाती हैं। जबकि एलआईसी के 8 जोनल कार्यालय, 100 डिवीजनल कार्यालय और 2048 ब्रांच कार्यालय हमारे देश में कार्यरत है, जिसमें काफी संख्या में कर्मचारी काम करते हैं। इसके अलावा पूरे देश में इस कम्पनी के करीब साढ़े दस लाख एजेण्ट मौजूद हैं।

बीमा क्षेत्र में विदेशी निवेश की सीमा बढ़ाने से इस क्षेत्र का तो नुकसान होगा ही, इसका सीधा नकारात्मक असर पेंशन क्षेत्र पर भी पड़ेगा। पेंशन क्षेत्र में भी विदेशी निवेश की सीमा को बढ़ाकर 49 प्रतिशत करने से निजी एवं विदेशी कम्पनियों को करीब 35 हजार करोड़ रुपये के विशाल पेंशन कोष को लूटने का मौका मिलेगा।

इसी तरह निजी एवं विदेशी बीमा कम्पनियां अपने भारतीय ग्राहकों को बेहतर सेवा देने के मामले में भी काफी कमजोर साबित हुई है। बीमा नियामक एवं विकास प्राधिकरण के अनुसार गलत जानकारी देकर बीमा पालिसियों को बेचने में दो दर्जन ऐसी कम्पनियां शामिल रही है। इस तरह के अनुचित करोबार करने में एचडीएसएफ, स्टैण्डर्ड लाइफ, बिड़ला सन लाइफ एवं रिलांयस लाइफ सबसे आगे है। इस प्राधिकरण के पास इनके ग्राहकों ने इन कम्पनियों के खिलाफ 1 अप्रैल से 20 जुलाई 2014 तक हजारों शिकायतें दर्ज कराई है। इनमें से कुछ के विवरण इस प्रकार है-

कम्पनियों के नाम	शिकायतों की संख्या
एचडीएफसी स्टैण्डर्ड लाइफ	10,819
बिड़ला सन लाइफ	6, 185
रिलायंस लाइफ	6,188
आईसीआईसीआई प्रूडेन्सियल	3, 649
बजाज आलियांज	5,441
मैक्स न्यूयॉर्क लाइफ	2,615
एसबीआई लाईफ	2,190

सोचने की बात है कि इसी आलोच्य अवधि के दौरान सरकारी बीमा कम्पनी एलआईसी के खिलाफ केवल 763 शिकायतें मिलीं जबकि इसकी बाजार हिस्सेदारी 80 प्रतिशत है। इन निजी एवं विदेशी कम्पनियों के खिलाफ ग्राहकों की शिकायतों की बढ़ती संख्या भयावह है। प्राधिकरण द्वारा संकलित आंकड़ों के मुताबिक 2011-12 में जहां इनके खिलाफ करीब 1 लाख शिकायतें थीं, वे 2012-13 एवं 2013-14 में बढ़ कर क्रमशः 1 लाख 68 हजार एवं 2 लाख 11 हजार हो गईं। अमेरिका एवं ब्रिटेन में भी भारत में कार्यरत विदेशी कम्पनियों के रिकॉर्ड काफी खराब रहे है और उनके खिलाफ न्यूयार्क टाईम्स, वाल स्ट्रीट जर्नल आदि विख्यात अखबारों में काफी कुछ छप चुका है।

इतने सारे तथ्यों व प्रमाणों के बावजूद भारत सरकार बीमा क्षेत्रों में विदेशी निवेश की सीमा को बढ़ाकर इन कम्पनियों को भारतीय बीमा बाजार में अधिकाधिक घुसपैठ कराने को तत्पर है। देश की तमाम जनतांत्रिक एवं क्रान्तिकारी जमातों को निश्चय ही सरकार की इस जन विरोधी नीति का विरोध करना चाहिए। ❑

1857 और सुरेन्द्र साँय

प्रीतीश आचार्य

हमारे देश के आदिवासी और पिछड़े इलाकों में अठारहवीं और उन्नीसवी शताब्दियों में 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के पहले अंग्रेज ईस्ट इंडिया कंपनी की बढ़ती दखलंदाजी और राजस्व वसूली के खिलाफ बहुत सारे स्थानीय (लगभग 960) विद्रोह हुए, जिनमें आदिवासियों, किसानों, बुनकरों, स्थानीय राजा-जमींदारों और उनके सिपाहियों ने भाग लिया। यह बड़े अफसोस की बात है कि इन विद्रोहों के बारे में हमें बहुत कम पता है। इसका एक बड़ा कारण हमारे इतिहासकारों का मानसिक आलस्य और उनका उपलब्ध लिखित सामग्री पर निर्भर रहना है। इधर 'सब-आल्टर्न स्टडीज' के रूप में इतिहासकारों की एक नई जमात में समाज के उपेक्षित समुदायों की ऐतिहासिक भूमिका के बारे में गवेषणा (शोध, अनुसंधान) करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है। लेकिन ये इतिहासकार भी पिछड़े और आदिवासी इलाकों में जाकर वाचिक परंपरा से प्राप्त होनेवाले स्रोतों की तह में जाने की उतनी कोशिश नहीं करते जितनी उन्हें करनी चाहिए। या फिर उनकी सारी पढ़ाई अंग्रेजी में होने, अंग्रेजी में ही लिखने और पारंपरिक ज्ञान के प्रति अवज्ञा की औपनिवेशिक मानसिकता के चलते उनका रुझान भी स्थानीय बोलियों में प्रचलित लोक कथाओं, लोक गीतों और किंवदंतियों को अपनी गवेषणा का आधार बनाने में बाधक होता है जब कि देश में शायद ही कोई ऐसा गाँव हो जिसके बारे में किसी न किसी प्रकार की किंवदंती न हो।

मेरा गाँव गरभना पश्चिम ओड़िशा के मुख्य नगर संबलपुर से 70 किलोमीटर दूर है। हमारे गाँव में अंगरेजों के खिलाफ विद्रोह करनेवाले संबलपुर की राजगद्दी के दावेदार सुरेन्द्र साँय के बारे में किंवदंती और लोक गीत प्रचलित हैं। सुरेन्द्र साँय (जन्म 1809- मृत्यु 1884) ने संबलपुर के इलाके में अंग्रेजों के खिलाफ 18 वर्ष की उमर से प्रारंभ कर मृत्यु तक यानी 57 वर्ष अनवरत संघर्ष किया। अपने विद्रोह में उन्हें अंत तक लोगों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समर्थन भी मिलता रहा जिसके कारण वे जीवन काल में ही एक महान पुरुष माने जाने लगे थे। आज उनकी मृत्यु को 130 वर्ष हो रहे हैं, लेकिन लोक मानस में उनकी स्मृति बनी हुई है। पश्चिम ओड़िशा के कई गाँवों में उनके नाम पर युवा संगठन, क्लब और विद्यालय चल रहे हैं।

बहरहाल हमारे गाँव गरभना में सुरेन्द्र साँय के बारे में यह किंवदंती प्रचलित है कि अंग्रेजों के खिलाफ अपने विद्रोह में सुरेन्द्र साँय और उनके साथी गुरिल्ला (छापामार) युद्ध के दौरान गरभना में घोड़े बदलने और सुस्ताने के लिए रुकते थे और गाँव का गौंतिया (मुखिया) उनका आश्रयदाता हुआ करता था। यह किंवदंती प्रकारांतर से यह बताती है कि अंगरेजों के खिलाफ विद्रोह में गरभना गाँव की भी भूमिका थी। अब पूरी प्रामाणिकता के साथ यह बताना अत्यंत कठिन है कि घोड़े बदलने के लिए सुरेन्द्र साँय और उनके साथियों के रुकने के अलावा हमारे गाँव की अंग्रेजों के खिलाफ सुरेन्द्र साँय के विद्रोह में भूमिका कितनी थी! वह जो हो सो हो, लेकिन हमें गर्व करने से कौन रोक सकता है!

(2)

सुरेन्द्र साँय के पिता धरम सिंह (चौहान वंश) संबलपुर के राजपरिवार में एक हिस्सेदार थे। 1827 में संबलपुर के राजा महाराजा साँय की मृत्यु हो गई। वे निःसंतान थे सो निकटवर्ती बरपाली के जमींदार नारायण सिंह को अंग्रेजों की शह से राजगद्दी पर बिठाया गया। असल में महाराज साँय के समय से ही संबलपुर राज अंग्रेजों के नियंत्रण में चल रहा था और वे (अंग्रेज) ज्यादा से ज्यादा राजस्व वसूल करवा रहे थे। इससे राजा और अंग्रेजों के खिलाफ असंतोष बढ़ रहा था। महाराज साव की मृत्यु के बाद अपने पिता धरम सिंह के वारिस की हैसियत में सुरेन्द्र साँय ने राजगद्दी पर अपना दावा पेश किया लेकिन उनके दावे को ठुकरा कर जब बरपाली के जमींदार नारायण सिंह को राजगद्दी पर बिठाया गया तो सुरेन्द्र साँय और उनके समर्थकों ने विद्रोह शुरू कर दिया। संबलपुर राज की प्रजा भी उन्हें अपने राजा के रूप में देखना चाहती थी क्योंकि उसे यह विश्वास था कि वे (सुरेन्द्र साँय), नारायण सिंह की तरह अंग्रेजों की कठपुतली नहीं बनेंगे।

इस प्रकार सुरेन्द्र साँय का संबलपुर की राजगद्दी पर दावे के लिए अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह 1827 में शुरू हुआ। इस वक्त उनकी उमर 18 साल थी और उनके मुख्य सलाहकार उनके चाचा बलराम साँय थे। सुरेन्द्र साँय के सभी छह भाई– उदंत, ध्रुब, उज्जवल, छबील, जाज्वल और भेदिनी - विद्रोह में उनके पूरी तरह साथ थे।

सुरेन्द्र साँय के विद्रोह की कहानी को आगे बढ़ाने के पहले संबलपुर की

उन दिनों की राजनीति को समझना जरूरी लगता है। अंग्रेजों के आने से पहले संबलपुर एक स्वाधीन राज्य हुआ करता था। पश्चिम ओड़िशा के सुंदरगढ़, बलांगीर, बौध, आठमल्लिक जैसे राज्यों के बीच संबलपुर राज्य सबसे ज्यादा प्रभावशाली राज्य था। संबलपुर के राजा को 'अठारगड़ मउड़मणि' (अठारह राज्यों का राजधिराज) कहा जाता था। संबलपुर राज्य के प्रभाव के पीछे कुछ सामाजिक और व्यापारिक कारण थे। संबलपुर की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि वह नागपुर, कटक और कलकत्ता के रास्ते में पड़ता है। इसके साथ महानदी के तट पर बसा होने के कारण वह पश्चिम ओड़िशा का प्रधान व्यापारिक केंद्र भी था। पश्चिम ओड़िशा का वस्त्र उद्योग 'संबलपुरी' कहलाता है। संबलपुरी साड़ी की ख्याति आज भी चंदेरी, कोटा, बनारसी, टंगाइल और जामदानी साड़ी से किसी कदर कम नहीं है। पश्चिम ओड़िशा में बोली जानेवाली भाषा भी 'संबलपुरी' कहलाती थी और आज भी इसी नाम से जानी जाती है। व्यापारिक केंद्र होने के कारण संबलपुर का राजनीतिक महत्व भी उस वक्त खूब बढ़ा-चढ़ा हुआ था।

अंग्रेजों ने 1804 में मराठों को पराजित कर पूर्वी ओड़िशा के इलाके को अपने नियंत्रण में कर लिया था। एक साल बाद पश्चिम की ओर बढ़ते हुए उन्होंने 1804 में संबलपुर को, जो पहले मराठों के कब्जे में था, अपने नियंत्रण में ले लिया। 1804 से 1817 के बीच संबलपुर की स्थिति ऐसी थी कि वह अंग्रेजों के अधीन था भी और नहीं भी—उस समय संबलपुर में राजा का शासन था पर अप्रत्यक्ष रूप से उस पर अंग्रेजों का नियंत्रण था, लेकिन मराठे भी पूरी तरह से पराजित नहीं हुए थे। 1817 में तीसरे आंग्ल-मराठा युद्ध में मराठे पूरी तरह से पराजित हुए और तब संबलपुर से औपचारिक मराठा शासन का भी अंत हो गया।

मराठों और अंग्रेजों के बीच युद्ध में स्थानीय राजा और अभिजात वर्ग के लोग मराठों के विरुद्ध थे। वे यह सोचते थे कि मराठों के चले जाने पर संबलपुर में राजा का स्वाधीन शासन कायम हो सकेगा, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। राजा के हर काम में अंग्रेजों का हस्तक्षेप होने लगा। साथ-साथ अंग्रेजों ने राजस्व वसूली पर भी अत्यधिक जोर देना शुरू किया। अभिजात वर्ग के लोगों, जैसे मंदिरों के पुजारी, ब्राम्हण, गाँव के गौंतिया (मुखिया) और राज के अधिकारियों से राजस्व वसूला नहीं जाता था, लेकिन अंग्रेजों ने इनसे भी वसूली करने की मुहीम छेड़ दी—इन लोगों का माफीनामा (कर्ज माफी) समाप्त कर दिया गया। राजस्व वसूली में काफी कड़ाई बरती जाने लगी और किसानों को पहले से बहुत ज्यादा कर देने के लिए बाध्य किया जाता रहा। सूखा पड़ने या बाढ़ आने पर भी किसानों को कोई रियायत नहीं दी जाती थी। इन सबके चलते सभी वर्गों के लोगों में अंगरेजों के खिलाफ तीव्र असंतोष और रोष की स्थिति थी।

इस स्थिति में 18 वर्ष के नौजवान सुरेन्द्र साँय और उनके साथियों ने 1827 में अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह शुरू किया तो उसे किसानों, आदिवासियों और अन्य सभी वर्गों का समर्थन मिला। सुरेन्द्र साँय के विद्रोह को दो चरणों में देखा जा सकता है–पहला चरण 1827 से 1840 तक चला और दूसरा 1857 से 1884 तक। विद्रोह के प्रथम चरण (1827-1840) में सुरेन्द्र साँय और उनके साथियों ने इलाके के आदिवासियों, किसानों, गांवों के मुखियाओं को संबलपुर के राजा नारायण सिंह के खिलाफ एकजुट किया। नारायण सिंह को अंग्रेजों का पूरा सहयोग मिल रहा था, उनका समर्थन देने का अर्थ अंग्रेजों का साथ देना ही होता था। अंग्रेजों के समर्थन के कारण नारायण सिंह का पलड़ा एकदम झुक नहीं गया था और संबलपुर के सारे आदिवासी, जमींदार, सरदार, मुखिया और अन्य अभिजात वर्ग के लोग दो गुटों में बँट गए और इन दोनों गुटों का जब-तब एक दूसरे पर हमला करना, एक आम बात हो गई थी। माहौल को दूषित करने में अंग्रेजों ने कोई कसर उठा नहीं रखी थी। 1840 में सुरेन्द्र साँय और उनके साथियों पर नारायण सिंह के लोगों ने एक बड़ा हमला किया जिसमें सुरेन्द्र साँय तो बच गए लेकिन उनके सहयोगी लखनपुर के जमींदार बलभद्र देव मारे गए। इस हमले के तुरंत बाद सुरेन्द्र साँय और उनके भाई उदंत ने रामपुर के जमींदार दुर्जय सिंह को, जिनकी अगुवाई में किए गए हमले में बलभद्र देव की मौत हुई थी, जबाबी हमला कर मार डाला। इसके बाद सुरेन्द्र साँय और उनके चाचा व भाई को दुर्जय सिंह की हत्या का दोषी ठहरा कर आजीवन कारावास की सजा देकर हजारीबाग जेल भेजे जाने पर संबलपुर में सुरेन्द्र साँय के नेतृत्व में चलनेवाला विद्रोह दब गया।

जेल में नौ वर्ष बाद 1849 में नारायण सिंह की मृत्यु हो गई। वे भी महाराज साँय की तरह निःसंतान थे। 1848 में अंग्रेजों ने राजा की मृत्यु के बाद किसी उत्तराधिकारी न होने की स्थिति का पूरा फायदा उठाने के लिए 'डॉक्ट्रिन ऑफ लैप्स' के सिद्धांत की ईजाद की थी। नारायण सिंह की मृत्यु का फायदा उठा कर अंगरेजों ने संबलपुर पर अपना प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित कर लिया और राजस्व वसूली की मात्रा को कई गुना बढ़ा दिया। 1849 में संबलपुर का वार्षिक राजस्व देय 8800 रु0 था जो 1854 तक बढ़ाकर 74000 रु0 कर दिया गया। जमींदारों और मुखियाओं से कर वसूली में सख्ती नहीं बरती जाती थी लेकिन अब उन्हें ज्यादा कर देने के लिए विवश किया जाने लगा। ऐसे में वे भी विद्रोहियों का साथ देने लगे। संबलपुर में 1850 के दशक में अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह फिर

तेजी से उभरने लगा पर उसे नेतृत्व प्रदान कर सकने वाले नेता हजारीबाग जेल में कैद थे।

प्रायः इसी समय उत्तर भारत में अंग्रेजों के खिलाफ 1857 का ऐतिहासिक विद्रोह शुरू हुआ। बागी सिपाहियों ने कई शहरों से अंगरेजों को खदेड़ दिया और उनमें जेल के फाटक खोल दिए। हजारीबाग जेल का फाटक भी बागियों ने खोल दिया तो सुरेन्द्र साँय और उनके भाई 17 साल जेल काटने के बाद बाहर आए। इस बीच उनके मुख्य परामर्शदाता चाचा बलराम साँय की मृत्यु हो गई थी। बहरहाल जेल से निकलने के बाद सुरेन्द्र साँय अपने भाई के साथ संबलपुर को रवाना हुए।

सुरेन्द्र साँय शायद पढ़े-लिखे व्यक्ति नहीं थे। औपनिवेशिक शोषण के भयावह रूप के बारे में उन्हें कुछ ज्यादा मालूम नहीं था। लेकिन 1857 के ऐतिहासिक समय का उन्हें निश्चय ही एहसास रहा होगा। बागी सिपाहियों के तेवर को देख उनमें आशा का संचार हुआ था और उन्हें यह भी महसूस हुआ कि अंग्रेजों को हराया-भगाया जा सकता है। 17 वर्ष के लंबे जेल-जीवन के बाद भी वे निराश नहीं हुए थे। अंग्रेजों के खिलाफ फिर से लड़ने के लिए उनका मन तैयार था। संबलपुर पहुँचते ही उन्होंने राजगद्दी पर अपना दावा पेश किया, लेकिन अंगरेज किसी भी हालत में उन्हें राजगद्दी सौंपने को प्रस्तुत नहीं थे। उधर संबलपुर के लोगों और जमींदारों व मुखियाओं ने उनके दावे का समर्थन करना शुरू कर दिया । अंग्रेजों ने घबराकर सुरेन्द्र साँय को संबलपुर में नजरबंद कर दिया। लेकिन 31 अक्टूबर 1857 के दिन सुरेन्द्र साँय कैद से भाग निकले और उन्होंने एक बार फिर से विद्रोह करने की घोषणा कर दी।

अंग्रेजों के खिलाफ इस विद्रोह में सुरेन्द्र साँय को पश्चिम ओड़िशा के घेंस, कोलाबिरा, पहाड़ श्रीगिड़ा, मचिदा, लईड़ा, लुईसिंहा, लखनपुर और भेडेन के जमींदारों का पूरा समर्थन मिला। विद्रोह के दौरान सुरेन्द्र साँय के साथियों ने काफी समय तक संबलपुर का हजारीबाग, रांची, कटक और नागपुर (जहाँ से अंग्रेजों के लिए कुमक आ सकती थी) से संबंध विच्छिन्न कर दिया। विद्रोही गुरिल्ला (छापामार) युद्ध में माहिर थे। उन्होंने अंग्रेज फौज के ठिकानों और डाकघरों में आग लगा दी। नवम्बर 1857 से मार्च 1858 तक युद्ध जोरों से चला। इस दौरान कैप्टेन वुडब्रिज और मेजर बैट्स नामके दो बड़े अंग्रेज फौजी अफसर मारे गए पर सुरेन्द्र साँय के भाई उज्जवल को अंगरेज सैनिकों ने पकड़ लिया और उन्हें फाँसी पर चढ़ा दिया। विद्रोहियों की मदद कर रहे पाटना के राजा को डराने के लिए 1000 रु0 को जुरमाने की सजा दी गई। घेंस के जमींदार माधो सिंह और उनके पुत्र कुंजल सिंह को पकड़ कर फाँसी पर लटका दिया गया और माधो सिंह के एक अन्य पुत्र हाथी सिंह को 'कालापानी' की सजा (आजीवन कारावास) देकर अंडमान भेज दिया गया। सुरेन्द्र साँय के एक भाई छबील साँय भी युद्ध के दौरान मारे गए।

पाँच महीने की भारी लड़ाई के बाद विद्रोहियों की ताकत चुकने लगी। 1862 में सुरेन्द्र साँय के दो भाइयों–ध्रुव और उदंत तथा पुत्र मित्रभानु साँय ने आत्मसमर्पण कर दिया। लेकिन सुरेन्द्र साँय संबलपुर का राजा घोषित किए जाने के अपने दावे पर टिके रहे। उन्होंने अंत तक, अपनी ताकत के पूरी तरह खत्म हो जाने और अपने प्रायः सभी साथियों के मारे जाने के बावजूद आत्मसमर्पण नहीं किया। अंततः सरकार ने सुरेन्द्र साँय को वार्षिक 1200 रु0 देना स्वीकार किया और सुरेन्द्र साँय ने इसके एवज में चुप रहना मंजूर किया।

सुरेन्द्र साँय के चुप रहने के निर्णय के बाद भी कहीं-कहीं जब-तब अंग्रेजों और उनके समर्थकों पर हमले होते रहे। सरकार को लगा कि इन हमलों के पीछे सुरेन्द्र साँय का हाथ है। 1863 में जब संबलपुर, सेंट्रल प्रोविन्सेस (सीपी) का अंग था तब सीपी के मुख्य कमिशनर दौरे पर संबलपुर आए तो लोगों ने उन्हें अंग्रेजी राज में होने वाली अपनी समस्याओं के बारे में बताया। मुख्य कमिशनर ने समस्याओं के समाधान के बारे में पूछा तो लोगों ने कहा कि सुरेन्द्र साँय को राजा घोषित करने पर सारी समस्याओं का समाधान हो जाएगा। अब सरकार को इस बात का विश्वास हो गया कि किसी साजिश के चलते लोग उत्पात मचाते हैं। मुख्य कमिशनर के दौरे के कुछ महीने बाद सुरेन्द्र साँय और उनके बचे हुए साथियों को गिरफ्तार कर नागपुर की असीर गढ़ जेल में भेज दिया गया। इसी जेल में 20 वर्ष बाद 75 वर्ष की आयु में 1884 में उनकी मृत्यु हुई।

(3)

सुरेन्द्र साँय के विद्रोह को स्थानीय भाषा में 'उलगुलान' कहा जाता था। उनका विद्रोह 1857 के ऐतिहासिक विद्रोह के लगभग 30 साल पहले शुरू हुआ था और वह 1857 के बाद भी कुछ वर्षों तक चला द्य 1857 के स्वतंत्रता संग्राम से सुरेन्द्र साँय के विद्रोह का प्रत्यक्ष संबंध भले ही नहीं था लेकिन उनके विद्रोह को 1857 से अलग कर के भी देखा नहीं जा सकता। हजारीबाग जेल से तो 1857 के बागियों के कारण ही वे मुक्त हो पाए थे और बागियों के तेवर से उन्हें यह भरोसा हुआ था कि अंग्रेजों को भगाया जा सकता है। नवम्बर 1857 से मार्च 1858 तक सुरेन्द्र साँय और उनके समर्थकों ने जम कर लड़ाई लड़ी। इस लड़ाई में कहीं न कहीं 1857 के बागियों से प्राप्त प्रेरणा जरूर रही होगी। सूरेन्द्र साँय और उनके साथियों को औपनिवेशिक तंत्र और उसके द्वारा किए जाने वाले शोषण

के बारे में ज्यादा पता नहीं था। वे अपनी स्थानीय समझ के हिसाब से संघर्ष कर रहे थे। उनके पास आधुनिक अस्त्र-शस्त्र नहीं थे, इसलिए वे गांवों या जंगलों में रहकर गुरिल्ला (छापामार) लड़ाई लड़ते थे। इसमें ग्रामीणों का पूरा सहयोग रहता था।

सुरेन्द्र साँय संबलपुर की राजगद्दी के दावेदार थे। पश्चिम ओड़िशा के जमींदारों में बहुतों का उन्हें समर्थन प्राप्त था तो उसका एक बड़ा कारण यह भी था कि वे संबलपुर के राजा के अंगरेजों की दखलंदाजी से मुक्त होने पर वे (जमींदार) भी राहत की साँस ले सकेंगे। अंग्रेजों से लड़ाई में घेंस के जमींदार माधो सिंह को फाँसी दी गई। उनके दो बेटे ऐरी सिंह और वैरी सिंह लड़ाई में मारे गए और एक बेटे कुंजल सिंह को संबलपुर में बीच बाजार में फाँसी दी गई ताकि लोग डरें। वह स्थान जहाँ कुंजल सिंह को फाँसी दी गई थी, वह कुंजल पाड़ा (मोहल्ला) के नाम से जाना जाता है और संबलपुर का एक अत्यंत व्यस्त स्थान है। सोना खान के जमींदार वीर नारायण सिंह, जिनके नाम पर आज छत्तीसगढ़ में 'शहीद दिवस' पालन किया जाता है, सुरेन्द्र साँय के प्रबल समर्थक थे। अपनी छापामार लड़ाई के दौरान संबलपुर के विद्रोही सोना खान में पड़ाव डाला करते थे और वीर नारायण सिंह से सहायता प्राप्त किया करते थे। पाठकों को यह जानकर खुशी ही होगी कि वीर नारायण सिंह की पत्नी घेंस के जमींदार परिवार की बेटी थी।

जमींदारों के समर्थन के कारण सुरेन्द्र साँय के विद्रोह को जन-विद्रोह की संज्ञा न देना उनके साथ घोर अन्याय करना होगा। सुरेन्द्र साँय पश्चिम ओड़िशा के किसान, खेत मजदूर, बुनकर और विशेषकर आदिवासियों की आशा और आकांक्षा के प्रतीक-पुरुष बन गए थे। पश्चिम ओड़िशा के गांवों में संहारा, बिंझआल, किशान, गोंड, मुंडा, ओरावँ आदिवासियों की बस्ती है। गाँव के स्तर पर लोगों के बीच आदिवासी को एक जाति की तरह ही देखा जाता था यानी उनकी कोई अलग पहचान नहीं थी। वे गाँव की अन्य जातियों की तरह किसानी और खेत-मजदूरी करते थे। अंग्रेजों ने जिस तरह जमीन का लगान बढ़ाया उससे सारा ग्राम समाज त्रस्त और दुखी था। ब्रिटिश न्याय व्यवस्था पहले की न्याय व्यवस्था की तरह सहज और सीधी नहीं थी। इस व्यवस्था से सारे ग्रामीण खासकर आदिवासी बहुत नाराज थे। लगान न चुकाने पर जमीन साहूकार के हाथ चली जाती थी। किसानों को यह लगता था कि सुरेन्द्र साँय के राजा बनने पर वे अपनी जमीन की रक्षा कर सकेंगे।

(4)

सुरेन्द्र साँय को 1864 में नागपुर की जेल में भेजा गया। इसके दो साल बाद ओड़िशा में पहली ओड़िया पत्रिका 'उत्कल दीपिका' कटक से प्रकाशित हुई। 1884 में जब सुरेन्द्र साँय की जेल में मृत्यु हुई, उसके एक साल बाद 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। 1864 से 1884 के बीच देश में राजनीतिक गतिविधियाँ बढ़ी। ओड़िशा में कई नई पत्रिकाएं निकलीं पर कहीं भी सुरेन्द्र साँय या उनके विद्रोह की चर्चा नहीं हुई। अगर उन दिनों पत्र-पत्रिकाओं में चर्चा होती,उनको जानने वाले लिखते तो शायद सुरेन्द्र साँय के बारे में हमें ज्यादा जानकारी होती। जानकारी के अभाव में तो कुछ पढ़े-लिखे लोगों ने उन्हें कहीं-कहीं डाकू और लुटेरा बता डाला है। यह पढ़े-लिखे लोगों की सांस्कृतिक विपन्नता है, जो सुरेन्द्र साँय जैसे व्यक्ति को नायक के रूप में नहीं देख पाती। लिखित सामग्री के न रहने पर भी पश्चिम ओड़िशा के हजारों गांवों में सुरेन्द्र साँय अमर हैं। उनकी और उनके साथियों से जुड़ी कहानियों और गीतों में उन्हें (सुरेन्द्र साँय को) एक 'अलौकिक मानव' के रूप में याद किया गया है। असल में अंग्रेजों के कुशासन को समाप्त करने के उपक्रम में पश्चिम ओड़िशा के सभी वर्गों के लिए वे आशा और कल्पना की तरह थे। उनकी कथा हमें यह भी बताती है कि ग्रामीणों में सहज ही उनके पक्ष में लड़नेवाले के साथ एकात्म होने की प्रवृत्ति शहरातियों से कहीं ज्यादा होती है। जिस व्यक्ति ने 37 साल जेलों में काटे हों और 1862 के क्षणिक विचलन के बावजूद अंत तक संघर्ष करते हुए जेल में मृत्यु का वरण किया हो, वह ग्रामीणों की श्रद्धा का पात्र न बने यह असंभव बात है।

मेरे गाँव गरभना के लोग (दूसरे भी) सुरेन्द्र साँय नाम को सरलीकृत कर 'सुंदर साँय' बोलते हैं। उनकी वीरता और दृढ़ता से अपने को जोड़ते हैं और जोड़ने की इस प्रक्रिया में अपनी पहचान बनाने की कोशिश करते हैं। दरअसल सुरेन्द्र साँय पश्चिम ओड़िशा की अस्मिता के प्रतीक हैं। उन्हें नायक बनाने के प्रयत्न में लोकमानस ने एक खलनायक भी खोज लिया है। दयानिधि मेहेर नामक एक व्यक्ति अंग्रेजों को सुरेन्द्र साँय की गतिविधियों की सूचना देता था और उसने सुरेन्द्र साँय के साथ विश्वासघात किया था। 1757 के प्लासी के युद्ध में सिराजुदुल्ला के साथ विश्वासघात करनेवाले मीर जाफर से दयानिधि मेहेर की तुलना करना लोकमानस की सुरेन्द्र साँय के कद को बढ़ाने का एक ऐसा सहज और भोला प्रयत्न है, जिसका केवल सम्मान ही किया जा सकता है।

ओड़िया से अनुवाद : सीमा कच्छप,
45 आशुतोष हॉस्टल, आर.आई.ई
यूनिट-9, भुवनेश्वर

वंचितों और उत्पीड़ितों के बीच एक समाजवादी बुद्धिजीवी

अनिल सद्गोपाल

"पिछले वर्ष जेल में साथ-साथ बिताए तीन महीनों ने हमें और भी नजदीक ला दिया था... पूरे जेल जीवन में हमने साथ-साथ एक ही बरतन में खाना खाया। बरतन के नाम पर हमें एक-एक थाली मिली थी। हम एक थाली में दोनों की दाल लेते और एक में दोनों की सब्जी और फिर मिल कर खाते। दाढ़ी, चश्मा, वेशभूषा, टायर की एक सी चप्पलें, एक से दुबले-पतले शरीर ने हम दोनों को शक्ल-सूरत में काफी एक जैसा बना दिया था। लोग अक्सर मुझे राजनारायण समझ बैठते और राजनारायण को सुनील..." ये पंक्तियाँ सुनील ने आज से 24 वर्ष पहले अपने साथी राजनारायण की अप्रैल 1990 में सड़क दुर्घटना में मृत्यु के बाद उसकी याद में प्रकाशित स्मारिका 'लड़त जा रे' में लिखी थीं। राजनारायण और सुनील ने 1980 के दशक के बीच के वर्षों में होशंगाबाद जिले के केसला ब्लाक में किसान आदिवासी संगठन बनाया था जो समाजवादी चिंतक किशन पटनायक के नेतृत्व में गठित समता संगठन से जुड़ा था।

इस 21 अप्रैल 2014 को 54 वर्ष की अल्पायु में मृत्यु हो गई। सुनील ने बी.ए. तक की अपनी पढ़ाई राजस्थान की सीमा के निकट मध्य प्रदेश के मंदसौर जिले के एक सुदूरवर्ती कस्बे रामपुरा के स्कूलों और कॉलेज में की। उसके पिता डॉ. राम प्रसाद गुप्त रामपुरा कालेज में अर्थशास्त्र पढ़ाते थे। समाज के कल्याण के लिए अर्थशास्त्र के उपयोग में सुनील की दिलचस्पी शुरू से बनी रही तो उसका एक बड़ा कारण निश्चय ही पिता का प्रभाव था; पिता जो स्वयं अपनी बढ़ती उमर के बावजूद आर्थिक और विकास संबंधी ऐसे प्रश्नों पर लिखते रहे हैं, जिनका जनता से सीधा वास्ता है। मजे की बात यह है कि कुछ लोगों का कहना है कि सुनील पर अपने पिता का प्रभाव पड़ा था, तो पिता भी सुनील के सोचने-विचारने के प्रभाव से अछूते नहीं रह पाए।

1970 के दशक के उत्तरार्ध में सुनील ने जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में एम.ए. में दाखिला लिया। अर्थशास्त्र की गहरी विश्लेषणात्मक समझ के साथ सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से उसके संबंध का आकलन करने की अपनी क्षमता के कारण सहपाठियों और अध्यापकों, दोनों के बीच उसका बड़ा आदर था। 1980 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में राजनारायण की तरह ही सुनील समता संगठन की युवा-छात्र इकाई समता युवजन सभा में शामिल हुआ और बीच-बीच में मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले में जाता रहा। 1982-83 में असम के छात्र आंदोलन के समर्थन में दिल्ली से गुवाहाटी तक की साइकिल यात्रा और 1984 में ऑपरेशन ब्लू स्टार के खिलाफ दिल्ली से अमृतसर की पदयात्रा आयोजित कर उसने आज से तीस साल पहले ही अपनी संगठन व नेतृत्व क्षमता का परिचय दिया था।

आंदोलनात्मक जीवन

जनेवि में 1985 में अर्थशास्त्री स्व0 प्रोफेसर कृष्णा भारद्वाज के निर्देशन में जब सुनील शोध कार्य कर रहा था तब उसे पानी के प्रश्न पर राजनारायण के नेतृत्व में आदिवासियों द्वारा आंदोलन छेड़ने की खबर मिली; इस आंदोलन में आदिवासियों ने मटके फोड़ कर पानी के अभाव के खिलाफ अपना रोष व्यक्त किया था। यह सुनील के लिए निर्णय करने का वक्त था। 1985 के मई महीने की पहली तारीख (मई दिवस) को जनेवि में अपना शोध कार्य अधर में छोड़कर वह मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले में चला गया और अपनी मृत्यु पर्यंत वहाँ रहा। 1986 में केसला के इलाके में भयंकर सूखा पड़ा, जिससे खरीफ की फसल मारी गई। सरकार से राहत के लिए बारंबार की गई अपीलों का जब कोई नतीजा नहीं निकला तो नवम्बर 1986 में किसान आदिवासी संगठन ने राजनारायण और सुनील के नेतृत्व में पड़ोस के बैतूल जिले के भौरा गाँव से राजधानी भोपाल तक की ऐतिहासिक पदयात्रा आयोजित की। इस पदयात्रा में बार-बार यह नारा लगाया जाता रहा 'सुखाड़ और गरीबी से मुक्ति चाहिए'। भोपाल में मुख्यमंत्री ने पदयात्रियों से मिलने से इन्कार कर दिया तो पदयात्रियों ने यातायात अवरुद्ध (चक्का जाम) कर दिया और वे मुख्यमंत्री के निवास स्थान में पुलिस के प्रतिरोध के बावजूद घुस गए और उन्होंने मुख्यमंत्री को अपनी माँगों पर बातचीत करने के लिए मजबूर किया। मुख्यमंत्री ने पदयात्रियों की छह माँगों को पूरा करने का आश्वासन दिया और लघु सिंचाई योजनाएँ और राहत कार्य चलाने, जंगल से जलावन की लकड़ियाँ ले जाने पर से प्रतिबंध हटाने और संकट काल के समय कर वसूली और ऋण उगाही स्थगित रखने का वचन तो दे दिया, लेकिन उसका पालन करने में राज्य सरकार टाल-मटोल करती रही। इसके परिणाम स्वरूप आंदोलन भी जारी रहा और वह जल, जंगल, बिजली की माँग और भ्रष्टाचार

के विरोध के नए रूपों में प्रकट होता रहा। भोपाल में मुख्यमंत्री से मुलाकात के ठीक एक साल बाद किसान आदिवासी संगठन ने 25 नवम्बर 1987 को 'धोखा दिवस' के रूप में पालन करने का आह्वान किया। लेकिन इसका भी सरकार पर कोई असर नहीं पड़ा।

मध्यप्रदेश के इस इलाके में 1970 से तीन अलग-अलग सरकारी योजनाओं के कारण हालात बिगड़ते चले जा रहे थे। पहली परियोजना तवा बाँध निर्माण की थी; तवा बाँध ने 44 गाँवों और 21000 हेक्टेयर सघन वनभूमि को डुबो दिया; दूसरी परियोजना सेना की बाँदमारी की थी, जिसने 25 गाँवों को खाली करवाया; तीसरी परियोजना इटारसी के निकट सेना द्वारा गोला बनाने का कारखाना लगाने की थी, जिससे 9 गाँवों और आस-पास के जंगल को उजाड़ा गया। सारा इलाका भुखमरी और अभाव से तबाह था। आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन और जीविका के लोकतांत्रिक अधिकारों का हनन कर उन्हें लगातार विस्थापित किया जा रहा था। 1990 में सड़क दुर्घटना में राजनारायण की मृत्यु हो गई। इलाके की भीषण स्थिति से जूझने के लिए आंदोलन की अब पूरी जिम्मेवारी सुनील पर आ गई।

संघर्ष और निर्माण

छत्तीसगढ़ में 1977 से 1991 की अवधि में खान मजदूरों के क्रांतिकारी नेता शहीद शंकर गुहा नियोगी ने संघर्ष और निर्माण के एक नए राजनीतिक फलसफे को जन्म दिया। इस फलसफे में मजदूरों का अस्पताल, प्राथमिक स्कूल चलाने और लौह खनिज के खनन के लिए मशीनों का सिर्फ आंशिक इस्तेमाल जैसे कार्यक्रमों को मजदूर आंदोलन का अभिन्न अंग बनाने का अभिनव आदर्श उपस्थित किया गया था। इस आंदोलन से देश भर में जनांदोलनों ने प्रेरणा प्राप्त की और एक ऐसे वैकल्पिक विकास के प्रति आकृष्ट हुए। पूँजीपति वर्ग के बजाय मजदूर वर्ग का उत्पादन पर नियंत्रण ही रहेगा। 1990 के दशक

के प्रारंभिक वर्षों में सुनील ने शंकर गुहा नियोगी के आंदोलन के अनुभवों को ध्यान में रखते हुए केसला के विस्थापित आदिवासियों को जल, जंगल, जमीन और जीविका के अधिकार को पुनः हासिल करने के लिए संगठित किया। किसान आदिवासी संगठन के अनवरत आंदोलन के परिणामस्वरूप मध्यप्रदेश की कांग्रेसी सरकार 24 अक्टूबर, 1996 को तवा जलाशय के कारण विस्थापित हुए लोगों के पुनर्वास के लिए एक पंचवर्षीय कार्यक्रम लागू करने को राजी हुई। इस कार्यक्रम के तहत जलाशय के कारण विस्थापित हुए लोगों को जलाशय में मत्स्यपालन और मछली पकड़ने के अधिकार दिए जाने के साथ जलाशय के तट पर पानी के उतरने की स्थिति में खेती करने का भी अधिकार दिया गया। इसके लिए किसान आदिवासी संगठन ने जलाशय के निकट रहने वाले विस्थापित आदिवासियों की 37 प्राथमिक सहकारी समितियाँ गठित की। समितियों को लेकर उसने बाकायदा तवा मत्स्य संघ के नाम से एक पंजीकृत महासंघ (फेडरेशन) का गठन किया। यह तवा मत्स्य संघ, स्थानीय स्तर पर मछली बेचने के साथ-साथ दूर-दूर के बाजारों हावड़ा तक बरफ की सिल्लियों में मछलियों को पैक कर बेचने के लिए भेजता था। संघ ने जलाशय से चोरी-छिपे मछली पकड़ने के खिलाफ कड़े कदम उठाकर जलाशय की रक्षा करने के साथ-साथ मछली के स्टॉक में खपत बढ़ने के बावजूद कमी न आए, इसके लिए जलाशय में समय-समय पर मछली के अंडे डालकर मत्स्य पालन बढ़ाया। इसके बाद के 5 वर्षों में विस्थापितों द्वारा प्रबंधन का जिम्मा लेने पर मछली-उत्पादन में वृद्धि होने के साथ मछुवारों की आय में भी बढ़ोत्तरी हुई।

मत्स्य पालन और मत्स्य संसाधनों और जलाशय के संरक्षण के लिए तरीकों का इस्तेमाल किया गया, जिससे पर्यावरण के अनुकूल बड़े जलाशयों में टिकाऊ मत्स्य पालन का एक वैकल्पिक मॉडल विकसित किया गया, जिसमें सामुदायिक नियंत्रण और हिस्सेदारी पर जोर दिया गया। इस वैकल्पिक मॉडल ने देश का ध्यान खींचा।

सरकार की नामंजूरी के कारण नवीकरण में टालमटोल

इतनी भारी सफलता के बावजूद दिसम्बर 2001 में पाँच वर्षीय ठेके के नवीकरण का समय आने पर किसान आदिवासी संगठन को फिर आंदोलन छेड़ना पड़ा क्योंकि सरकार नवीकरण करने में आना-कानी कर रही थी। लेकिन अर्थशास्त्रियों और पर्यावरणवादियों के समर्थन और जनता के आंदोलन के चलते सरकार

जनवरी 2002 में ठेके का नवीकरण करने के लिए बाध्य हुई। 2006 में जब नवीकरण की नई तारीख पड़ी तब मध्यप्रदेश में कांग्रेस की जगह भाजपा की सरकार कायम हो गई थी। राज्य सरकार ने सतपुड़ा बांध अभयारण्य में तवा जलाशय के पड़ने का बहाना पेश कर दूसरी बार ठेके का नवीकरण करने से इनकार कर दिया। सरकार ने ठेके का नवीकरण करने से इनकार करते हुए सरकारी पर्यावरणवादी दलील दी कि बाघ अभयारण्य में मनुष्यों की उपस्थिति से ही वन्य जीव खतरे में पड़ जाता है। ऐसे में किसान आदिवासी संगठन के पास आदिवासियों के कठिन संघर्ष से प्राप्त किए गए लोकतांत्रिक अधिकारों की रक्षा करने के लिए फिर से सघन आंदोलन करने के सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं बचा था। सुनील ने आदिवासियों के लोकतांत्रिक अधिकारों को पुनः प्राप्त करने के लिए अपनी सूझ-बूझ का परिचय देते हुए एक नई रणनीति अपनाई। उसने भोपाल में हम लोगों से सम्पर्क किया और तवा मत्स्य संघ के अभिनव प्रयोग के अध्ययन और उस पर बहस का आयोजन किया। दिसम्बर 2006 में 'तवा जैव विविधता व मानवीय संबंध विशेषज्ञ समिति' के नाम से विशेषज्ञों की एक छह सदस्यीय कमेटी गठित की गई और इसके अध्यक्ष भारतीय वैसनिक संस्थान बेंगलुरु के प्रसिद्ध पर्यावरणविद् वैज्ञानिक माधव गाडगिल बनाये गए। कमेटी के अन्य सदस्यों में भोपाल के बरकतुल्लाह विश्वविद्यालय और अन्य सरकारी संस्थानों के वैज्ञानिक और विशेषज्ञ थे।

माधव गाडगिल कमेटी की रिपोर्ट

माधव गाडगिल विशेषज्ञ कमेटी ने राज्य सरकार को अप्रैल 2007 में अपनी रिपोर्ट पेश की। रिपोर्ट ने तवा मत्स्य संघ के मत्स्य उत्पादन में वृद्धि, मछली के स्टाक की बेहतर संरक्षण करने और आदिवासी मछुवारों की आय में वृद्धि के दावों को सही ठहराते हुए कहा कि तवा मत्स्य संघ के कार्य-कलाप से यह स्पष्ट प्रकट हुआ है कि (तवा) बाँध से विस्थापित हुए लोगों के लिए जलाशय में मत्स्य पालन (आय का) एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्रोत बन गया है, खासकर कि जब वहाँ एक लोकतांत्रिक, भागीदारी वाले और पारदर्शी ढाँचे के तहत मत्स्य पालन किया गया है और मछलियाँ पकड़ कर बेची गयी हैं। तवा मत्स्य संघ एक ऐसा ढाँचा उपलब्ध करा सका है।

माधव गाडगिल विशेषज्ञ कमेटी की रिपोर्ट इतना कहकर ही ठहरी नहीं, उसने राष्ट्रीय पार्कों और अभयारण्यों के अनुभवों का अध्ययन करने वाले अंतर्राष्ट्रीय स्रोतों का हवाला देते हुए बिना पूरी जाँच-पड़ताल किए मनमाने अनुमानों पर आधारित अभयारण्यों के बारे में प्रचलित धारणा का जोरदार खंडन करते हुए आगे बड़े महत्व की बात कही है, जिसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है : "अभयारण्यों के संरक्षण के बारे में नई धारणा (या मत) यह है कि उनका (अभयारण्यों का) संरक्षण तभी हो सकता है, जब स्थानीय समुदायों को, क्षेत्र के बाशिंदों की हैसियत में अभयारण्यों का शत्रु मानने के बजाय उनका संरक्षक माना जाए; स्थानीय समुदायों को वन्य जीवन में बाधक न माना जाए।" कमेटी ने संरक्षण की आवश्यकता को जरा भी कम न आँकते हुए, जहाँ संरक्षण जरूरी हो वहाँ सख्ती से संरक्षण के उपाय काम में लाने की बात कहते हुए स्थानीय लोगों की जीविका की सुरक्षा, सांस्कृतिक पोषण (सस्टेनेंस) और अन्य आवश्यकताओं पर ध्यान देने की जरूरत बताई है और संरक्षण के साथ स्थानीय समुदाय की गरीबी दूर करने का सीधे संबंध और मत्स्य पालन के अलावा अन्य उपायों की तजवीज करने की भी बात कही है ताकि देश के स्थलीय और समुद्री इलाकों में विकास का टिकाऊ इंतजाम संभव हो सके।

विशेषज्ञ कमेटी ने अपने निष्कर्ष पेश करते हुए कहा था कि "मत्स्य पालन व मछली पकड़ने और पानी उतरने पर खेती करने से सतपुड़ा बाघ अभयारण्य में बाघ या अन्य विपद्ग्रस्त प्रजातियों के जीव-जंतुओं के अस्तित्व पर संकट पैदा होने का कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं मिला है; तवा मत्स्य संघ को तवा जलाशय में मत्स्य पालन मछली और वहाँ की मछली बेचने के लिए दिए गए पट्टे की अवधि को एक दीर्घकालीन टिकाऊ आधार पर बढ़ाना चाहिए और इसके लिए आदिवासियों के साथ व्यवस्थित ढंग से बातचीत करनी चाहिए और सरकार व तवा मत्स्य संघ द्वारा संयुक्त रूप से वन्य जीवन पर पड़ने वाले दीर्घकालीन प्रभाव के बारे में वैज्ञानिक मूल्यांकन किया जाना चाहिए। विशेषज्ञ कमेटी ने सरकार को यह सलाह भी दी कि इस प्रकार के तर्कसंगत और पर्यावरणीय दृष्टि से उपयोग-सक्षम तथा सांगोपांग दृष्टिकोण से तवा जलाशय और सतपुड़ा बाघ अभयारण्य की मौजूदा समस्याओं का हल किया जा सकता है, वहाँ और वन्य जीवन और ग्रामीणों की जीविका का संरक्षण संभव है और यह संविधान में प्रदत्त मूल अधिकारों और राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों के अनुकूल होगा।"

जाहिर है कि माधव गाडगिल विशेषज्ञ कमेटी की रिपोर्ट राज्य सरकार विकास के जिस पूँजीवादी मॉडल का अनुसरण करती है, उसमें फिट नहीं बैठती। 1996 में तवा मत्स्य संघ और मध्यप्रदेश मत्स्य महासंघ के बीच हुए समझौते के बाद वैश्वीकरण की उन्मुक्त बाजारवादी नीतियों विभिन्न राज्य सरकारों को जनविरोधी नीतियों अपनाने की दिशा में ढकेल रही थीं। सरकारी सोच पर पूँजीवादी मॉडल हावी था जो जनता और उसके जीविका के लोकतांत्रिक अधिकार को वन संरक्षण के प्रतिकूल मानता था। राज्य सरकार ने माधव गाडगिल विशेषज्ञ कमेटी की रिपोर्ट पर गौर करना तो दूर उसके अस्तित्व को ही नकारते हुए किसान आदिवासी संगठन और तवा मत्स्य संघ के साथ बातचीत करने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार केसला आदिवासी ब्लॉक के विस्थापित आदिवासी एक बार फिर विस्थापित हो गए और इस

बार का विस्थापन तो स्थायी हो गया।

राजनीतिक विकल्प के लिए वैकल्पिक राजनीति

तवा मत्स्य संघ के अनुभव के बाद सुनील ने देश में एक राजनीतिक विकल्प के लिए वैकल्पिक राजनीति के निर्माण के आंदोलन में अपने को पूरी तरह झोंक दिया। 2008 की फरवरी में इंदौर में आयोजित एक विचार गोष्ठी में सुनील ने वैकल्पिक राजनीति पर बोलते हुए दो टूक शब्दों में कहा "कोई भी आंदोलन तब तक आगे नहीं बढ़ सकता, जब तक कि उसकी आधुनिक विकास नीति और आधुनिक प्रशासन व्यवस्था से पूँजीवाद के संबंध का विश्लेषण करने और उनके प्रत्येक के विकल्प निर्माण की सैद्धांतिक तैयारी नहीं होगी। इस मामले में सबसे ज्यादा महत्व या मायने की बात यह है कि आप में दुनिया को बदलने की जबरदस्त इच्छा है या नहीं। इसी से जुड़ा हुआ यह सवाल भी है कि आप कोई विकल्प देख पा रहे हैं कि नहीं या आप इस निष्कर्ष पर पहुँच गए हैं कि वैश्वीकरण और पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं है। अगर आपने यह मान लिया है कि कोई विकल्प नहीं है तो आप न वैकल्पिक राजनीति का निर्माण कर सकते हैं और न ही राजनीतिक विकल्प का।"

सुनील का दृष्टिकोण एकदम स्पष्ट है, उसमें किसी प्रकार के भ्रम की गुंजाइश नहीं है। "यह सैद्धांतिक शून्यता सचमुच बड़ी खतरनाक है, बहुत से लोग सिद्धांत का जिक्र आते ही उसे निरर्थक, बेकार और प्रयोग न लाने लायक बतलाने लगते हैं। इस प्रकार की मानसिकता हमें दिशाहीन करके छोड़ देती है। लेकिन हम पहले स्थिति को समझने का ढाँचा तैयार करने और फिर उसके अनुसार दुनिया को बदलने के गंभीर दायित्व से बच नहीं सकते। इस ढाँचे को सैद्धांतिक भी माना जा सकता है। यह कुछ भी हो सकता है—समाजवादी सिद्धांत या विचारधारा या सर्वोदय सिद्धांत या विचारधारा वाला ढाँचा हो सकता है या मार्क्सवादी या और कोई अन्य विचारधारा वाला। खतरनाक बात यह है कि विचार शून्यता अंततः यथास्थिति को मजबूत करने में ही परिणत होती है। सबसे बुनियादी प्रश्न यह है कि क्या दुनिया को बदला जा सकता है और उसकी जगह एक समतामूलक व न्यायपूर्ण समाज का निर्माण किया जा सकता है। यदि इस संभावना को हम स्वीकार करते हैं तो वैकल्पिक राजनीति जन्म लेगी ही। लेकिन यदि आप इस तरह की संभावना मानते ही नहीं तो कोई वैकल्पिक राजनीति नहीं हो सकती। तब भाजपा कांग्रेस का स्थान लेती रहेगी या कांग्रेस भाजपा का या किसी तीसरी पार्टी का उदय हुआ तो भी वह इन्हीं पार्टियों का नया रूप होगी।

सुनील ने इंदौर की विचार गोष्ठी के अपने भाषण के अंत में अपना सपना प्रस्तुत करते हुए कहा—समाजवाद का सपना खत्म नहीं हुआ है और न होगा। अगर हम मौजूदा वैश्विक संकट को दूर करना और दुनिया को बचाना चाहते हैं तो समाजवाद का कोई विकल्प नहीं है। लोगों को इस बात की सामान्य समझ है कि पूँजीवाद और आधुनिक विकास दुनिया को विनाश की ओर ले जा रहा है। विकल्प शायद परंपरागत सोच के अनुसार न हो (अनकनवेनशनल)। यह जरूरी नहीं है कि हम निजी संपत्ति को पूरी तरह समाप्त कर दें, न ही यह जरूरी है कि हम राज्य केंद्रित तानाशाही का निर्माण करें। इस तरह के प्रयोग चीन और रूस में असफल रहे हैं। लेकिन पिछले प्रयोगों की असफलता नये सबकों के स्रोत बनती हैं। हम समाजवाद के एक नए रूप की बात सोचें, एक पूँजीवादी व्यवस्था का विकल्प सोचते हुए हम साथ-साथ विकास और नई सभ्यता के एक नए मॉडल के बारे में सोचें, वैकल्पिक राजनीति का यह मसला सिर्फ एक राजनीतिक विकल्प का नहीं है, यह समाजवाद की अवधारणा और उसकी विचारधारा से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।

चार साल बाद सुनील ने एक ऐसे रास्ते पर अपने कदम बढ़ाए जिस पर चलने से हमारे अधिकतर अकादमिक बुद्धिजीवी हिचकिचाएँगे। वैकल्पिक राजनीति के संबंध में सुनील की अवधारणा विकसित होती गई और वह अन्ना हजारे और अरविंद केजरीवाल के भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन से पैदा होने वाले भ्रमपूर्ण संकेतों को समझ पा रहा था—राजनीतिक विकल्प के प्रति हजारे और केजरीवाल की जल्दबाजी, सुनील ने चेताया था समसामयिक राजनीति का एक दूसरा रूप गढ़ना आसान है। लेकिन व्यवस्था के आमूलचूल परिवर्तन के उद्देश्य से संचालित वैकल्पिक राजनीति के लिए चार बातें जरूरी हैं—पहली, नये भारत का सपना—सैद्धांतिक समझ और समग्रतावादी परिप्रेक्ष्य। दूसरा, एकदम नीचे से जनता के बीच टिका हुआ विश्वसनीय सांगठनिक आधार। तीसरा, संघर्ष और निर्माण के लिए व्यापक, विस्तृत, गहरा अनुभव और क्षमता। चौथा, धैर्य और प्रतिबद्धता लम्बे संघर्ष के लिए। कोई लाग लपेट किए बिना सुनील ने भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन की आलोचना करते हुए कहा : "भारत में भ्रष्टाचार की राक्षसी समस्या की जड़ें पूँजीवादी व्यवस्था की अत्यधिक विषमता, गला काट प्रतियोगिता, लालच, उपभोक्ता संस्कृति, वैश्वीकरण और उन्मुक्त बाजार की नीतियों, कम्पनी प्रमुख के विस्तार और केन्द्रीकृत प्रशासन में गहरे छिपी हुई हैं। इस अर्थ में भ्रष्टाचार एक भीतर तक घुसे हुए भयंकर रोग का महज बाहरी लक्षण है ...भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन के नेता लक्षणों से निपटते रहेंगे जबकि रोग बढ़ता ही जाएगा, पहले की तरह।

अरविंद केजरीवाल की प्रस्तुत 'स्वराज' का नई दिल्ली के जंतर-मंतर में लोकार्पण करते हुए अन्ना हजारे ने पुस्तक को 'देश में स्वराज कायम करने का एक कारगर मॉडल' पेश करने का प्रयास बताया था। सुनील ने पुस्तक की स्थापनाओं की आलोचना करते हुए कहा था '(केजरीवाल का) स्वराज ग्राम सभाओं और मोहल्ला सभाओं तक जाकर रुक जाता है, वह

उनके आगे नहीं जा पाता। केजरीवाल इस बात की अनदेखी करते हैं कि प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उसके साथ आर्थिक विकेन्द्रीकरण न हो; आर्थिक और सामाजिक विषमता कम न हो और देश की आर्थिक व्यवस्था और विकास का मॉडल परिवर्तित न हो। गांधी के स्वराज में ये सब (बातें तत्व) अंतर्निहित थे। पुस्तक इस तरह के दावे करती है कि स्थानीय जनता को सत्ता दिए जाने मात्र से भूख और बेरोजगारी समाप्त हो जाएगी; शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएँ सुधर जाएंगी, नक्सलवाद खत्म हो जाएगा। यह सिर्फ अति सरलीकरण नहीं है बल्कि भ्रामक और एक तरफा तर्क है।"

जिस राजनीतिक विकल्प की बड़ी-बड़ी बात की जाती है, उसका निर्माण करने में क्या हमारे देश पर उन्मुक्त बाजारवादी (नवउदारवाद) पूँजीवाद के हमले पर विचार किया जाना जरूरी नहीं है; क्या इस हमले को नजर अंदाज किया जा सकता है? "पिछले कुछ दशकों से हमारी दुनिया वित्तीय वैश्वीकरण के साथ पूँजीवादी साम्राज्यवाद के एक नए दौर में फँस गई है, जबकि वित्तीय वैश्वीकरण खुद ही संकट से गुजर रहा है... भारत की अर्थव्यवस्था, राजनीति, समाज और संस्कृति पर देशी-विदेशी कंपनियों का आधिपत्य स्थापित हो गया है। शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्रों में निजीकरण, व्यावसायीकरण और विकृतियों का साम्राज्य स्थापित हो चला है। आधुनिक विकास ने एक के बाद एक आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय संकट उपस्थित कर दिए हैं। अब यह दावा नहीं किया जा सकता कि महँगाई, गरीबी और अन्य सभी समस्याएँ भ्रष्टाचार का परिणाम हैं; भ्रष्टाचार को सारी समस्याओं का जनक बताना अब काफी नहीं है। हमें आर्थिक नीतियों के बारे में गंभीरता से सोचना होगा। किसानों, मजदूरों, मछुवारों, दलितों, आदिवासियों, महिलाओं और युवजनों की जीविका के बारे में स्पष्ट धारणा बनाए बिना और उनके संघर्षों-आंदोलनों में भाग लिए बिना किसी राजनीतिक विकल्प की बात सोची ही नहीं जा सकती। कोई भी क्रांति बिना किसी विचारधारा के नहीं हो सकती। परिवर्तन और समाज के रूपांतरण का कोई भी आंदोलन विचारधारा की समझ के बिना नहीं हो सकता—आगे नहीं बढ़ सकता। यह बात गांधी, जयप्रकाश, लोहिया, आम्बेडकर से लेकर लेनिन, माओ, नेलसन मंडेला, चेगुएवारा और शावेज तक सब पर लागू होती है।

उत्पीड़ितों के बीच एक जैविक बुद्धिजीवी

माओ के शब्दों को उधार ले तो सुनील उत्पीड़ित लोगों के बीच गया, उनके साथ उसने काम किया—संघर्ष किया, उनसे सीखा और जो सीखा उसे लौटाया। लेकिन उसने अपना जीवन इस अनुभव को रूमानियत प्रदान करने में नहीं बिताया; जो वह आसानी से कर सकता था—अधिकतर गैर सरकारी संगठनों के कार्यकर्ताओं की तरह जो मठों की तरह संस्थाएँ बनाते हैं। वह मुख्य रूप से समाजवाद की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध राजनीतिक व्यक्ति था। तथा मत्स्य संघ के रूप में विकास के एक वैकल्पिक मॉडल के निर्माण के अनुभव से उसने यह सत्य हृदयंगम किया था कि पूँजीवादी मॉडल को स्वीकार करने वाली राजनीति तथा मत्स्य संघ जैसे वैकल्पिक मॉडल को सफल नहीं होने देगी। इस तरह की (तथा मत्स्य संघ जैसी) प्रक्रियाओं की सीमाओं को उसने महसूस किया कि वे किस हद के आगे जाकर बढ़ नहीं पाती। इसके बाद सुनील ने अपने अनुभवों को सैद्धांतिक आधार प्रदान करने पर अपना ध्यान केंद्रित किया और किशन पटनायक ने लोहिया के समाजवाद का जिस प्रकार विस्तार किया था, उसको ग्रहण करते हुए अपने विचारों का विकास किया; खुद को सैद्धांतिक रूप से प्रशिक्षित करते हुए अपने राजनीतिक कार्य-कलाप को बढ़ाने की कोशिश की।

सुनील को उसके असंख्य लेखों और पुस्तिकाओं के लिए भी याद किया जाएगा। उसका ज्यादा लेखन हिन्दी में है। समसामयिक सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों या विकास संबंधी चिंताओं से जब हम जूझ रहे होते थे यानी सोच-विचार कर उन्हें समझने की चेष्टा करते होते थे तो वह उन पर लिख चुका होता। इन समसामयिक सामाजिक-राजनीतिक विषयों का दायरा इतना व्यापक होता था कि हैरत होती है। उसके लेखन में तथ्य, आँकड़े और विवरण विषय के बारे में उसके विशद ज्ञान के परिचायक होते; सीधी और सरल भाषा में लिखने के कारण वह अत्यंत पेचीदा विचारों को भी सहजता से प्रकट कर पाता था; उसकी सरल-सीधी भाषा हम सबके लिए अनुकरणीय है। यहाँ मैं हाल के उसके दो भाषणों का जिक्र करना चाहूँगा। सितम्बर, 2013 में ओड़िसा के बरगढ़ में भारत की आर्थिक नीति का विश्लेषण करते हुए उसने अत्यंत स्पष्टता से यह समझाया था कि भारत किस प्रकार के उन्मुक्त बाजार व्यवस्था (नव उदारवाद) के जाल में फँस गया है और उससे हमें मुक्ति पाने (निकलने के) के लिए किस प्रकार के वैकल्पिक आर्थिक कदम उठाने चाहिए। दूसरा भाषण इसी साल का 7 अप्रैल 2014 का (मृत्यु के एक पखवाड़े पहले) है। विभिन्न राजनीतिक दल के प्रतिनिधियों के साथ सुनील ने शिक्षा अधिकार मंच द्वारा शिक्षा पर आयोजित एक विचार गोष्ठी में समाजवादी जनपरिषद का प्रतिनिधित्व करते हुए शिक्षा के संबंध में ठोस और व्यावहारिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। वह अखिल भारतीय शिक्षा अधिकार मंच का संस्थापक सदस्य था और उसके अध्यक्ष मंडल के सदस्य के रूप में उसने शिक्षा अधिकार आंदोलन में सक्रिय भूमिका अदा की।

राजनीतिक विकल्प के लिए वैकल्पिक राजनीति की आवश्यकता पर सुनील के लेख और भाषण हमें नई राह दिखाते हैं और समसामयिक राजनीति को समझने के औजार प्रदान करते हैं। हाल के वर्षों

में भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन द्वारा कोई विचारधारा प्रस्तावित किए बिना राजनीतिक विकल्प के निर्माण करने की चेष्टा का सुनील ने जो विश्लेषण किया, वह उसकी गहरी अंतर्दृष्टि का परिचायक है। इस विश्लेषण से यह प्रकट है कि समाजवादी आंदोलन के अपने बहुत सारे प्रिय और वरिष्ठ साथियों की तरह उसने अपना रास्ता नहीं बदला और समाजवादी जनपरिषद में बना रहा भले ही इससे उसके राजनीतिक विकल्प और कार्यकलाप काफी हद तक सीमित हुए। वह ऐसा व्यक्ति था, जिसे अपने सैद्धांतिक मार्ग से डिगने के बजाय अकेले चलना मंजूर था।

अंत में बहस और विरोध का जोखिम उठाते हुए मैं सुनील को मार्क्सवादी चिंतक ग्राम्सी ने उत्पीड़ित और दमित लोगों के बीच काम करने वाले बुद्धिजीवियों की परिभाषा करते हुए जिन्हें जैविक (आर्गेनिक) बद्धिजीवी कहा है, उस कोटि का बुद्धिजीवी कहकर श्रद्धांजलि अर्पित करना चाहता हूँ। उन्मुक्त बाजारवादी पूँजीवाद और उसके आक्रमणों के विरोध में अनवरत बहस चलाकर और विकल्प के रूप में विकास के एक समाजवादी मॉडल की आवश्यकता बताते हुए हमारे देश और हमारी जनता पर उन्मुक्त पूँजीवाद के प्रभुत्व का विरोध करने वाले हमारे देश के एक नेता के रूप में भी उसका स्मरण करता हूँ। ❑

एक सच्चा मार्गदर्शक

राजकुमार सिन्हा

1993 में बरगी बांध के विस्थापितों के जबलपुर आयुक्त कार्यालय के सामने आयोजित धरने में शामिल होने के लिए सुनील भाई आये थे। यह उनसे मेरी पहली मुलाकात थी। उनके साथ शिवली एवं बालू भी आए थे। उनके तथा किसान आदिवासी संगठन के कामों के बारे में पहले सुना था। धरने की गहमा-गहमी में ज्यादा चर्चा तो नहीं हो पाई परंतु संगठन के ढांचे, निर्णय-प्रक्रिया एवं व्यापक वैचारिक लड़ाई के सूत्र देकर वे केसला लौट गए थे।

हम लोग भी बरगी विस्थापितों के संघर्ष में लगे रहे। 11 मई, 1994 को मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह बरगी विस्थापितों के पुनर्वास के बारे में चर्चा करने मण्डला आये थे। उन्होंने बरगी विस्थापितों के पुनर्वास संबंधी चर्चा के अलावा म.प्र. के अन्य जन-संगठनों से भी चर्चा का समय निर्धारित किया था। उस बैठक में भी सुनील भाई उपस्थित थे। उन्होंने म.प्र. में आदिवासियों एवं जंगल की समस्याओं को लेकर मुख्यमंत्री के सामने अपनी सटीक एवं सारगर्भित बातों को रखा। उनकी बातों से हम काफी प्रभावित हुए। बरगी में विस्थापित मछुआरों द्वारा सहकारिता तथा विपणन का कार्य चलाया जा रहा था। गुजरात के आणंद स्थित ग्रामीण प्रबन्धन संस्थान ने मध्य प्रदेश में विस्थापितों द्वारा सहकारिता के प्रयोग पर अध्ययन के आधार पर एक शोध पत्र लिखने के लिए कहा था।सुनील और स्मिता ने यह शोध पत्र तैयार किया था। इसके लिए उन्होंने म.प्र. राज्य मत्स्य विकास निगम, ठेकेदारी प्रथा तथा सहकारिता मॉडल का तुलनात्मक अध्ययन किया। वे बरगी आकर रूके और उनसे देर रात तक अलग-अलग मुद्दों पर विस्तृत चर्चा हुई। तब उनके विचार एवं ज्ञान की गहराई समझ सका।

बरगी में मत्स्याखेट का सहकारिता मॉडल तवा में भी लागू करने के लिए संघर्ष से लेकर मत्स्याखेट कार्य मिलने पर उसे व्यवस्थित ढंग से चलाने में बरगी के विस्थापित साथी लगातार सभी प्रकार का सहयोग देते रहे।

केसला के पास के भूमकापुरा गांव में मैं एक रात सुनील भाई के पास रूका था। साथ मिलकर खाना बनाया था। तब उनकी जीवटता एवं साहस से मुझे काफी ताकत मिली थी। झाबुआ के छोटे से गांव रोटला के प्रयोग में बाबा आमटे से प्रभावित युवाओं के समूह में मैं भी शामिल था। परन्तु अव्यावहारिकता के कारण समूह 3 साल मे बिखर गया।

नर्मदा में बन रहे बांधों के बाद उसके किनारे लगने वाले थर्मल पावर परियोजनाओं एवं उत्खनन को लेकर सुनील भाई काफी उद्वेलित थे। इस मुद्दे पर हम लोगों ने जबलपुर से साईखेड़ा, पिपरिया तक की यात्रा भी की थी। उनका कहना था कि इस तरह तो नर्मदा का जल पीने एवं नहाने लायक भी नहीं बचेगा; इन मुददों को लेकर नर्मदा के किनारे बसे बड़े शहरों में जागृति का कार्य किया जाए। इसे एक सूत्र में बांधकर बड़ी लड़ाई लड़नी चाहिए।

बरगी जलग्रहण क्षेत्र के मण्डला जिले में प्रस्तावित चुटका परमाणु बिजली घर के संघर्ष में सुनील भाई प्रत्यक्ष तौर पर काफी सक्रिय रहे। वे इस संघर्ष को राष्ट्रीय नेटवर्क के साथ जोड़कर बड़ी लड़ाई खड़ा करने की तैयारी करने की सलाह देते रहे। हमेशा की तरह चुटका की लड़ाई में भी संगठन का ढांचा, निर्णय प्रक्रिया, वैचारिक समझ, स्थानीय नेतृत्व एवं लोगों से चंदा लेकर आर्थिक सहयोग जुटाने संबंधी सुझाव देते रहे। हमने एक सच्चा मार्गदर्शक साथी खो दिया है।

इरोम शर्मिला
अहिंसक सत्याग्रह की अप्रतिम प्रतीक

20 अगस्त 2014 को सत्र न्यायालय के फैसले के कारण मणिपुर सरकार को इरोम शर्मिला को रिहा करना पड़ा। 22 अगस्त को उन्हें पुनः गिरफ्तार कर लिया गया। सैन्य बल विशेषाधिकार कानून (आफ्स्पा) को हटाने की मांग को लेकर लगातार 14 साल से वे अनवरत अनशन पर हैं।

मालोम नामक मणिपुर के एक छोटे कस्बे में 2 नवम्बर 2004 को भारतीय सेना ने बीच बजार में अंधाधुंध गोलियां चलाई। इससे कई लोग मारे गये। इनमें एक 62 वर्षीय वृद्धा लाईसेंग बाम इबाटुम्बी थी और 18 वर्षीय सीनम चन्द्रमणि, जिसको 1988 में भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय बाल वीरता पुरस्कार भी मिला था।

ईरोम चानू शर्मिला भी उस दिन उपवास पर थीं; इस उपवास को उन्होंने लगातार 14 साल जारी रखा है। एक अन्यायपूर्ण कानून के खिलाफ जो सेना व अर्ध सैनिक बलों को कानून से परे रखता है, ताकि उनके निरंकुश व्यवहार को कोई भारतीय नागरिक चुनौती न दे सके। सत्र न्यायालय ने शर्मिला के अनवरत अनशन को अहिंसक सत्याग्रह बताया और कहा कि उन पर आत्महत्या के प्रयास आरोप लगाना गलत है ।

'राजकीय दमन व यौन हिंसा के खिलाफ महिलायें' (डब्ल्यू. एस. एस.) नामक मोर्चे ने आफ्स्पा के घृणित परिणामों के खिलाफ एक कार्यक्रम किया था। यह आलेख उस मौके पर जारी किया गया था।

मैं मनोरमा देवी, आप ही के जैसे एक परिवार में माँ और भाइयों के साथ रहती थी। मेरा गाँव बमोन कम्पू मेरे राज्य मणिपुर की राजधानी इम्फाल की ओर जाने वाली सड़क से कुछ दूर है। 11 जुलाई 2004 की रात की घटना किसी डरावने हादसे से कम न थी। अचानक आधी रात में भारतीय फौज के 7-8 फौजी हमारे घर में घुस गए। एक अधिकारी ने मेरी बूढ़ी माँ पर बन्दूक तान दी और मुझे घसीटकर बाहर ले गया। फौजी अधिकारियों ने मुझे बेरहमी से पीटा। मैं दर्द और डर से चिल्लाती रही। मेरे रिश्तेदारों को मेरी चीख सुनाई दे रही थी लेकिन फौजियों के घेरे में वे असहाय थे। रात के 3:30 बजे अधिकारियों ने मेरा गिरफ्तारी का कागज बनाया और जबरदस्ती मुझे अपने साथ ले गए।

अगले दिन परिवारवालों ने मुझे खोज तो निकाला लेकिन चिथड़ों में। आंखों पर खरोंच और घाव के निशानों के साथ 6 गोलियों से छलनी मेरी लाश मेरे घर के पास एक खेत में मिली। मेरे साथ किए गए बलात्कार को छुपाने के लिए उन लोगों ने मेरे गुप्तांगों को गोलियों से भेद दिया था। जब मेरे परिवार वालों और गाँव वालों ने विरोध किया तो उन्होंने कहा कि मैं एक आतंकवादी थी और भागने की कोशिश कर रही थी, इसलिए उन्होंने मुझ पर गोली चलाई। लेकिन मेरा एकमात्र गुनाह यह था कि मैं एक ऐसे राज्य में रहती थी जहाँ उग्रवाद, आतंकवाद और नक्सलवाद को रोकने के नाम पर कानून ने फौजियों को कुछ भी करने की खुली छूट दे रखी है। यह कानून है सशस्त्र बल विशेष अधिकार अधिनियम (आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पावर्स एक्ट–अफ्सपा), 1958। यह फौजियों को हर किस्म की मनमानी करने का अधिकार देता है।

मेरे बलात्कार और हत्या के पाँच दिन बाद बुजुर्ग महिलाओं का एक समूह, जो कि अपने आपको 'माइरा पाइबी' या मदर्स फ्रंट कहता है, 17वीं असम राइफल्स के मुख्यालय के सामने निर्वस्त्र इकट्ठा हुआ। समूह की महिलाओं के हाथों में बैनर था—"भारतीय सेना हमारा बलात्कार करो।" वे कह रही थीं, "हम माताएँ आ गई हैं। हमारा खून पीओ। हमारा मांस

सशस्त्र बल विशेष अधिकार अधिनियम (आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पावर्स एक्ट–अफ्सपा) 1958 फौजियों को इस प्रकार के विशेष अधिकार देता है:-

किसी भी कार्रवाई के लिए गिरफ्तार और तलाशी वारंट की जरूरत नहीं।

पांच या उससे ज्यादा लोगों के अवैध रूप से इकट्ठा होने और बंदूक या गोला-बारूद जैसे हथियारों के साथ होने पर सेना के अधिकारी जरूरत पड़ने पर गोलीबारी और घातक बल का प्रयोग कर सकते हैं।

इस कानून के तहत कार्रवाई करने वाले किसी भी सैन्यकर्मी के खिलाफ आपराधिक मुकदमा चलाना संभव नहीं है, जब तक कि केन्द्र सरकार इसकी स्वीकृति न दे।

खाओ। शायद इस तरह से तुम हमारी बेटियों को बख्श दो।'' तब लोगों के दबाव में आकर मणिपुर सरकार ने मेरी मौत की परिस्थितियों की जाँच के लिए न्यायाधीश उपेन्द्र सिंह की अध्यक्षता में एक आयोग बिठाया। सेना इस जाँच के निष्कर्षों को सामने आने से आज तक रोक रही है और राज्य सरकार पर जोर डाल रही है कि उसको इस मामले में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है।

इरोम शर्मिला, मेरे राज्य की एक कार्यकर्ता, अफ्सपा के विरोध में सन् 2000 से अनशन कर रही है। उसे अधिकारियों ने नलियों के माध्यम से जबरदस्ती खाना खिलाकर जीवित रखा है। उसके स्थायी विरोध के चलते उस पर आत्महत्या की कोशिश का आरोप लगाया गया है।

मैं अभी भी न्याय का इंतजार कर रही हूँ क्योंकि सेना के अधिकारी अफ्सपा के तहत ''ड्यूटी के दौरान की गई कार्यवाई'' के नाम पर मिली कानूनी छूट का मजा ले रहे हैं। मेरे मामले में तो अभियोजन पक्ष को चकमा देने के लिए सेना और केन्द्र सरकार ने सुप्रीम कोर्ट तक दौड़ लगाई है।

लेकिन यह कहानी अकेले मेरी नहीं है। अफ्सपा अरुणाचल प्रदेश, असम, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड, त्रिपुरा और जम्मू व कश्मीर जैसे राज्यों के बड़े हिस्सों में लगभग 60 सालों से लागू है। इस कानून के दुरुपयोग की व्यापक गुंजाइश और इसके तहत सैन्यकर्मियों को दंड से मिलने वाली छूट ने ढेरों बलात्कार, गुमशुदगियों, मुठभेड़ और गिरफ्तारियों को अंजाम दिया है। मेरी तरह अनगिनत कहानियाँ हैं और उनमें से किसी में भी न्याय नहीं हुआ है।

अफ्सपा के साये में हुई बलात्कार और हत्या की घटनाएँ इतनी हैं कि सबको यहाँ दर्ज करना मुमकिन नहीं। और वे आज भी जारी हैं। यौन हिंसा से संबंधित आपराधिक कानूनों में संभावित संशोधनों पर गौर करने के लिए नियुक्त की गई न्यायाधीश जे.एस. वर्मा समिति का कहना था कि ''आंतरिक सुरक्षा गतिविधियों के चलते सुनियोजित या अलग-थलग हुई यौन हिंसा के लिए दंडमुक्ति को अफ्सपा द्वारा वैध करार दिया जा रहा है'' देश के बाकी हिस्सों के नागरिकों की तरह ही संघर्ष वाले क्षेत्रों की महिलाएँ भी सुरक्षा और सम्मान की हकदार हैं।'' समिति की सिफारिश थी कि यौन अपराध के आरोपी जिन सेनाकर्मियों के खिलाफ हैं, उन पर मुकदमा चलाने के लिए केन्द्र सरकार से स्वीकृति की जरूरत नहीं होनी चाहिए और अपराधियों पर सामान्य कानून के तहत कार्रवाई होनी चाहिए। लेकिन केन्द्र सरकार ने इन सिफारिशों को नजरअंदाज कर दिया है।

क्या पूर्वोत्तर या जम्मू कश्मीर की बलात्कार झेलने वाली महिलाएँ न्याय की हकदार नहीं? क्या सुरक्षाकर्मी पाक-साफ हैं और यौन हिंसा नहीं कर सकते? क्या गैर-संघर्ष क्षेत्र में मध्यम और उच्च जाति या वर्ग की किसी महिला के साथ हुए उत्पीड़न की तुलना में संघर्ष वाले इलाकों में किसी दलित, आदिवासी या मुस्लिम महिलाके साथ किया गया बलात्कार अधिक स्वीकार्य है? ऐसा क्यों है कि बलात्कार से जूझने वाली महिलाओं को अकसर उग्रवादी, माओवादी या चरित्रहीन करार दिया जाता है, जबकि बलात्कारी छुट्टा घूमते हैं?

❑

1974 में मणिपुर में सीमा सुरक्षा बल (बीएसएफ) के एक अधिकारी ने रोज नाम की एक महिला के साथ बार-बार बलात्कार किया। रोज ने खुदकुशी कर ली जबकि पर्याप्त सबूतों के अभाव में अपराधी छोड़ दिया गया।

1991 में जम्मू व कश्मीर के कुपवाड़ा में सुरक्षा सैनिकों ने कुनन-पोशपोरा गाँवों को घेर लिया। फिर 13 से 80 साल तक की उम्र की महिलाओं के साथ बड़े पैमाने पर बलात्कार किया गया। महिलाओं की संख्या 40 से 10 के बीच थी, ये महिलाएँ अभी भी न्याय की प्रतीक्षा कर रही हैं।

1997 में असम के नलबाड़ी जिले में तैनात सेनाकर्मियों ने उग्रवादियों की खोज में एक गाँव को तीन दिनों तक घेरे रखा। गाँव वालों को यातना देने के बाद उन्होंने 4 युवतियों के साथ बलात्कार किया। मामला दर्ज किया गया, लेकिन कोई जाँच नहीं की गई।

2009 में जम्मू व कश्मीर के शोपियां जिले में दो युवतियाँ अपने बागान जाने दोपहर में घर से निकलीं लेकिन फिर कभी वापस नहीं लौटीं। बाद में पुलिस व सेना के शिविरों के पास के नाले में हिंसा के निशान वाली उनकी लाशें मिलीं। पोस्ट मार्टम करने वाली डॉक्टर का कहना था कि युवतियों के साथ सामूहिक बलात्कार हुआ था। एक निष्पक्ष जाँच के सभी प्रयास नाकाम हो चुक हैं और सीबीआई ने मामले को बंद कर दिया है।

सुनना मना है

मार्क टली

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी मुझे पुराने खयालोंवाले हेडमास्टरों की याद दिलाते हैं। यह कहा जाता है कि वे अपने मंत्रियों के साथ स्कूल के बच्चों जैसा सलूक करते हैं और उन्हें यह बताते रहते हैं कि वे क्या पहनें, किनसे मिलें और मुँह खोलना पड़े तो क्या कहें ।

इससे यही जाहिर होता है कि घटनाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने और सलाह लेने के मामले में प्रधानमंत्री अपने अफसरों (नौकरशाही) पर ही भरोसा कर रहे हैं । उनका दफ्तर (प्रधानमंत्री-कार्यालय) मंत्रियों के निजी सचिवों की जांच-पड़ताल (उनके अतीत के जीवन और केरियर की भी) के बाद ही नियुक्ति करता है और खासकर ऐसे किसी भी व्यक्ति को तो पास ही फटकने नहीं देता, जिसके बारे में यह महसूस किया जाता है कि उसके यूपीए सरकार से नजदीकी ताल्लुक रहे हैं। ऐसे माहौल में अफसरों (नौकरशाही) को यह महसूस करने में ज्यादा देर नहीं लगती कि प्रधानमंत्री ऐसी अफसरशाही चाहते हैं जिसकी प्रतिबद्धता खुद उनसे हो। प्रतिबद्ध अफसरों की यह प्रवृत्ति होती है कि वे अपने राजनीतिक आकाओं को, असल में जो हो रहा है उसे बताने के बजाए ऐसी बातें बताते हैं, जो वे सुनना चाहते हैं।

किसी भी प्रधानमंत्री के लिए जानकारी मुख्य स्रोत उसका अपना दल होना चाहिए। 1977 में इंदिरा गाँधी की हार के बाद 'भारत इंदिरा है, इंदिरा भारत है–इंडिया इज इंदिरा एंड इंदिरा इज इंडिया' का उद्घोष करने वाले कांग्रेस अध्यक्ष देवकांत बरुआ से मेरी एक बार मुलाकात हुई थी तो बातों-बातों में उन्होंने कहा हमारे दल के सदस्य इंदिरा गाँधी से और उससे भी ज्यादा संजय गाँधी से इतना डर और सहम गए थे कि वे जो भी जानकारी (माँ-बेटे को) देते थे वह मनगढ़ंत होती थी और एक एकदम अवास्तविक चित्र पेश करती थी। बरुआ का मानना था कि सब कुछ जो गड़बड़ा गया, उसका एक बहुत बड़ा कारण यह अवास्तविक चित्र था। मोदी ने दल का दायित्व अपने एक अत्यंत निकटतम साथियों में से एक अमित शाह को सौंपा है। क्या दल पर अमित शाह के प्रभुत्व के कारण भाजपा के ही जानकारी के अपने सूत्र अवरुद्ध नहीं हो गए हैं?

जानकारी का एक दूसरा माध्यम मीडिया है। इंदिरा गाँधी सोचती थीं कि इसके बिना उनका काम चल सकता है। इस बारे में तो वह इतनी ज्यादा आश्वस्त थीं कि उन्होंने इमरजेंसी के दौरान आकाशवाणी के महानिदेशक को कहा था कि वे (खबरों की) विश्वसनीयता की परवाह न करें। इंदिरा गाँधी ने पराजय की कीमत चुका कर ही यह जाना कि जब मीडिया विश्वसनीय नहीं रहता तब अफवाह फैलानेवालों की बन आती है। इंदिरा गाँधी ने बीबीसी (ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कारपोरेशन) के महानिदेशक को एक बार कहा था, 'मैंने जनता का प्रेम कभी नहीं खोया, लोग सिर्फ अफवाहों के कारण भटक गए।' आज प्रधानमंत्री मोदी यह मानते हैं कि मीडिया सिर्फ वही जानकारी दे, जो सरकार दे या वह (मीडिया) उससे कोई प्रश्न न पूछे । लिहाजा मोदी खुद और उनकी सरकार के अफसर व मंत्री के माध्यम से मीडिया से संपर्क (कम्युनिकेट) करते हैं। इससे पत्रकार, जो समाचार उन्हें परोसे जाते है, उनकी गहराई से छान-बीन भी नहीं कर पाते। इसलिए उनकी रिपोर्टों में कमी रह जाती है य उनमें जानकारी का अभाव रहता है। वे जितनी सूचनाएँ देते हैं उनसे कहीं ज्यादा दे सकते थे। इससे भी ज्यादा गंभीर बात तो यह है कि पत्रकार जो प्रश्न पूछते हैं वे सरकार की नीतियों के प्रति जनमानस की चिंता और उसके सरकारों को भी प्रकट करते हैं। जब ऐसा नहीं होता तो ट्वीटर जैसे जानकारी के एक और महत्वपूर्ण स्रोत की विश्वसनीयता भी कम हो जाती है।

सत्ता के मद में चूर सरकारों को लोगों के अधिकारों को कुचलने से रोकने में न्यायपालिका की अहम भूमिका होती है य वह जनता के अधिकारों की संरक्षक होती है। इसी वजह से यह तय किया गया था कि न्यायाधीशों के चयन के मामले में सरकार की कोई भूमिका नहीं होनी चाहिए य उनका चयन उनके साथी न्यायाधीशों द्वारा ही किया जाना चाहिए। लेकिन अब न्यायाधीशों के चयन की प्रक्रिया में सरकार फिर से अपने को दाखिल कर रही है तो क्या इस बात का खतरा पैदा नहीं हो गया है कि ऐसे न्यायाधीशों या वकीलों को (उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय के पदों पर) चुना नहीं जाएगा, जिनको विधि मंत्री कुछ ज्यादा ही आजाद खयालवाले यानी खुद की राय रखनेवाले मानते हों?

ऐसा जान पड़ता है कि मोदी अनुभवी लोगों की बात नहीं सुनते। कांग्रेस के भीतर इस बात को लेकर रोष है कि राहुल गाँधी किसिम किसिम की विदेशी डिगरियों वाले अनुभव हीन सलाहकारों पर बहुत ज्यादा भरोसा करते हैं। मोदी ने

(राहुल गाँधी की तरह) अपने आसपास युवा अनुभवहीन सलाहकार तो नहीं जुटाए हैं, लेकिन यह भी तो नहीं जताया है कि वे अनुभवी लोगों की इज्जत करते हैं। पहले की राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन (एनडीए) की सरकार के बड़े नेताओं में से ज्यादातर नेताओं के साथ उनका संपर्क नहीं है और खुद प्रधानमंत्री कभी भी राष्ट्र के स्तर पर (केंद्रीय) सरकार के साथ जुड़े नहीं रहे हैं।

मोदी राज के साढ़े तीन महीने तो यही जताते हैं कि भारत का प्रधानमंत्री कोई दूसरों की सुननेवाला व्यक्ति नहीं है (या ऐसा प्रधानमंत्री है जो किसी की नहीं सुनता)। इसलिए मुझे इस बात की आशंका होती है कि मोदी वास्तविकताओं से दूर छिटक जाएंगे। वे सुननेवाले व्यक्ति नहीं हैं, यह तो उनके गद्दी पर बैठते ही जाहिर हो गया था, जब उन्होंने अपनी व्यक्तिगत वेबसाइट पर अपना यह मतव्य पेश किया था कि जो लोग उन परिवर्तनों से, जिन्हें करने का उनका इरादा है, अभ्यस्त नहीं है 'वे आगे के वर्षों में उनसे अभ्यस्त हों।'

(मार्क टली बहुत वर्षों तक भारत में बीबीसी (ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कारपोरेशन) के संवाददाता रहे हैं और दिल्ली में रहते हैं। यह लेख 'हिन्दुस्तान टाइम्स' से लिया गया है।)

डर के घेरे

अशोक सेकसरिया

हम हिंदुस्तानियों की सबसे बड़ी खूबी यह है कि हम जिस चीज की निंदा करते हैं, खुद उसे बेहिचक करते हैं। सारे अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं ने नरेंद्र मोदी के राज के सौ दिनों का लेखा-जोखा छापा है। सरकारों के काम-काज के सौ दिनों के लेखे-जोखे को छापने का चलन कब से शुरू हुआ, यह हम ठीक से बता नहीं सकते। हमारा अंदाजा है कि पिछली सदी के उत्तरार्ध में यह शुरू हुआ होगा। पत्रकारिता का इतिहास पढ़ने के दौरान हमें यह पता चला था कि टेप रिकॉर्डर की ईजाद होने के बाद अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं में इंटरव्यू (भेंट-वार्ता) का चलन बढ़ा। अपनी मंदबुद्धि पर तरस भी आया था कि यह भी क्या इतिहास पढ़ कर जानना था!

बहरहाल सौ दिन के लेखे-जोखे पर लौटें।इसके चलन के बढ़ने को नजरअंदाज कर दें और खुद चल पड़ें।किस-किस चलन से हम अपने को बचाएंगे? अब तो बहुत सारे ऐसे 'चलन' शुरू हुए हैं जिनकी हम कल्पना तक नहीं कर सकते थे; जैसे, बच्चे के स्कूल में दाखिला पा जाने पर, किसी के किसी क्लब की सदस्यता प्राप्त करने पर, किसी किरानी या मोदी (नरेंद्र मोदी नहीं, मोहल्ले के मोदी) के नई गाड़ी खरीदने पर भोज (पार्टी) आयोजित करने का चलन बड़ी तेजी से चल पड़ा है। अगर आप मशहूर हो गए हों तो इस बात की पूरी संभावना है आपकी वर्षगाँठ मनाने के चलन को दो भागों में बाँटा जा सकता है - प्रत्येक छह महीने में एक बार।

इधर मोबाइल पर बातों का जो सिलसिला शुरू हुआ है उसने तो हमारी अर्थव्यवस्था को तहस-नहस कर डाला है - हम जिसे किसी काम के सिलसिले में बात करने टेलीफोन करते हैं वह हमारी बात सुनने के पहले जो राग शुरू करता है वह इतना विलंबित होता जाता है कि काम की बात एजेंडे में विविध (मिसेलेनियस) की कोटि में पहुँच जाती है। स्पष्टवादिता एक और लक्षण है, जिसके दर्शन हम हिंदुस्तानियों में दुर्लभ है; जब यह लगने लगता है कि अब अगर दस मिनट वार्तालाप जारी रहा तो बाहरी दुनिया से संपर्क करने के लिए सिर्फ दस रुपए बचे रहेंगे तब स्पष्टवादिता के लिए माफी मांगते हुए विनम्र निवेदन करते हैं कि फिर इस विषय पर बात करेंगे।

हम चलन और लक्षण दोनों से चेष्टा करके बचना चाहते हैं इसलिए प्रकटतः तो लेखा-जोखा नहीं करेंगे, प्रकारांतर से हो जाए तो उस पर हमारा वश नहीं।हम उस डर की चर्चा करेंगे जो नरेंद्र मोदी जब से गद्दी पर बैठे हैं तब से हमें इस तरह व्याप गया है कि हमारा हर हितैषी कहता है कि तुम पर मोदी का भूत सवार हो गया है, जब तक उसे नहीं उतारोगे तब तक तुम सिर्फ कुढ़ते रहोगे और खुद को कष्ट देते रहोगे।हितैषियों की बात में दम है पर हममें वह खम नहीं कि भूत को उतार सकें।

कुछ भूत के सवार होने और कुछ भूत को उतारने की गरज से 5 सितंबर को हम टेलीविज़न पर नरेंद्र मोदी का बच्चों से संबोधन-संवाद सुनने गए थे। जब मोदी ने एक बच्ची का यह किस्सा सुनाया कि उसने अपने छोटे भाई को गोद में ले रखा था और बार-बार यह पूछे जाने पर कि गोद में लेने के कारण वह थक तो नहीं गई है तो वह बार-बार कहती थकी नहीं हूँ। थकान कैसी! यह तो मेरा भाई है। मन भर आया। चूंकि मोदी ने अपने संबोधन में प्रसिद्ध गांधीवादी विचारक और लेखक दादा धर्माधिकारी का नाम लिया था, हमने सोचा कि मोदी आज से 65 साल पहले हमारी पढ़ी एक दूसरे प्रसिद्ध गांधीवादी गुजराती-

मराठी-हिंदी लेखक काका कालेकर की पुस्तक हिमालय-यात्रा में आए एक अत्यंत मार्मिक संवाद की बात कर रहे हैं, जिसमे (शायद काका कालेकर से यात्रा के दौरान एक पहाड़ी बच्ची की मुलाकात होती है) पहाड़ पर लेखक एक पहाड़ी बच्ची को एक बच्चे को गोद में लिए हुए देखता है और उसके पास जा कर पूछता है : क्या यह बहुत भारी है ? लड़की जवाब देती है : भारी नहीं भाई है। सारे संवाद की मार्मिकता और सूक्ष्मता 'भाई' और 'भारी' के अंतर्गुंफन में है।तक्षशिला को बिहार में बतलानेवाले मोदी से सटीक बयान और सूक्ष्म संवेदना को समझने की क्षमता की आशा हमें नहीं थी (और हमें खुद अपने पर भी भरोसा नहीं था कि प्रसंग की हमें सटीक याद हो सकती है ; जिस रफ्तार से हमारी स्मृति का लोप हो रहा है उसमे बनिया होने के बावजूद हम यह हम भूल जाते हैं कि हमारे पैसे कहाँ रखे हैं जबकि यह हम कभी सपने में भी नहीं भूल सकते थे)। फिर भी बच्ची के न थकने का प्रसंग हमें छू गया। संबोधन के बाद बच्चों ने प्रश्न पूछे. किसी ने यह नहीं पूछा 'कुछ लोग कहते हैं आपने कहा है कि भगत सिंह अंडमान जेल में रहे क्या यह सच है; किसी ने यह नहीं पूछा : आप दिन में कितनी बार कपड़े बदलते हैं, आपके पास किस-किस ब्रांड के जूते, कपड़े, घड़ी, मोबाइल है।जब कि आजकल के बच्चे इसी तरह के सवाल पूछते हैं।

संबोधन के सम्मोहन का जादू जैसे ही हमने अपनी थकी आँखों पर पानी डाला वैसे ही चटाक से टूटा, 'मियाँ, जब अस्सी बरस की उमर में तुम ह्वगे जाते हो तो सोचो जो किशोर हैं, जवान है उनको कितना ह्वगा जा सकता है।' एक मित्र के सामने अपना दुखड़ा रोया तो उन्होंने तीन मिनट की एक वीडियो क्लिप भेज दी। सुबह-सुबह अपनी भतीजे के बेटी की मशीन पर क्लिप देखी।1922 में जन्मा एक जर्मन हिटलर का करिश्मा बतलाता है और बीच में हिटलर के वात्सल्य से अभिभूत बच्चों और जर्मन युवाओं की संगीत की धुन पर अंध राष्ट्रवादी मार्च के दृश्य हैं। अस्सी बरस में तो टेक्नोलॉजी ने मनुष्य को जहाँ ला कर पटका है, वहाँ भारत का पहला गैजेट प्रेमी प्रधानमंत्री क्या-क्या कर सकता है, किस हद तक जा सकता है, यह सोचना चाहिए।

(2)

भारतीय राजनीति का संगञ्जित क्षेत्र इतना 'थेथर' हो गया है कि उससे यह उम्मीद भी नहीं की जा सकती कि वह शरम के मारे ही मोदी के रथ के सामने प्रतीक रूप में ही एक रोड़ा रखे। जयप्रकाश जी जैसे विनम्र और मृदुभाषी ने कांग्रेस मंत्रियों के लिए भोजपुरी के इस शब्द का मजबूरी में इस्तेमाल किया था क्योंकि थेथर का सटीक प्रति शब्द खड़ी बोली में नहीं है; थेथर का अर्थ बेहया, बेहूदा और जिस पर किसी का आलोचना का असर नहीं पड़ता हो, ऐसा कुछ है।

मोदी ने गद्दी पर बैठते ही सारे नियम कानूनों को धता बता कर अध्यादेश के मारफत अपने प्रधान सेक्रेटरी (प्रिंसिपल सेक्रेटरी) की नियुक्ति की तो विरोध का एक स्वर भी नहीं उभरा; लोकसभा में न्यायाधीशों के चयन के मामले में सारे विपक्ष ने सरकार को विधि मंत्री को चयन समिति का सदस्य बनाने की अनुमति दे दी।एक पल यह न सोचा कि लोकतंत्र के नाजुक तानेबाने में न्यायपालिका की स्वायत्तता और स्वाधीन सत्ता के साथ जरा सी भी छेड़-छाड़ कितनी घातक हो सकती है? देश के प्रधान न्यायाधीश सदाशिवम को सेवा निवृत्त होने के चार महीने बाद मोदी सरकार ने केरल का राज्यपाल बना दिया।सदाशिवम का बयान तो हैरत में डालने वाला है — किसी सौदेबाजी के तहत उनकी नियुक्ति नहीं हुई है; जाली मुठभेड़ (फेक इंकाउंटर) के मामले में अमित शाह के खिलाफ दूसरी अपील को खारिज करनेवाली सर्वोच्च न्यायालय की न्यायपीठ (बेंच) में वह (सदाशिवम) थे, अपील खारिज किए जाने का कारण अमित शाह के मामले का सोहराबुद्दीन शेख से मुठभेड़ के मामले से जुड़ा होना था और इसके लिए अलग अपील की जरूरत नहीं थी; उन्होंने अन्य सेवा निवृत्त सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीशों और सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीशों की तरह पंच निर्णय (आरबिट्रेशन) वाला काम प्राप्त नहीं किया और ना ही वे बड़ी-बड़ी कंपनियों के सलाहकार बने; 'न्यायपालिका में मेरे 19 वर्ष के अनुभव को देखते हुए और 26 अप्रैल 2014 को सेवा निवृत्त होने के बाद कहीं सलाहकार न होने और किसी ट्रिब्यूनल में पद न ग्रहण करने के कारण शायद सरकार ने मुझे राज्यपाल पद पर नियुक्त किया है; मैं चार महीने पहले सेवा निवृत्त हुआ, मैं अब एक आम आदमी हूँ और अपने अनुभव को केरल की जनता के हित में लगाना चाहता हूँ।

तो जनता का हित राज्यपाल के पद से ही किया जा सकता है? सदाशिवम के बयान का खुलासा यह है कि सरकार को सपना आया की एक सेवा निवृत्त मुख्य न्यायाधीश चार महीने से जनता की सेवा करने के लिए तड़प रहा है सो उसकी तड़प मिटाई जाए।

ए.एन. राय की सर्वोच्च न्यायलय के प्रधान न्यायाधीश पद पर नियुक्ति से इंदिरा गाँधी ने देश और न्यायपालिका को जो संदेश दिया था, मोदी सरकार ने न्यायाधीश चयन की प्रक्रिया में विधि मंत्री (कार्यपालिका) को शामिल कर और सदाशिवम को केरल के राज्यपाल पद पर नियुक्त कर वही संदेश दोहराया है।

इमरजेंसी जैसे भयानक, भयावह और अमानुषिक हादसे पर रोहिंटन मिस्त्री का उपन्यास 'एक फाइन बैलेंस' पढ़ने से

पहले हमें अपने डर के कारण यह लगता था कि खतरा सिर्फ हम जैसों को है, जो राजनीति से थोड़ा बहुत और पेशे के रूप में पत्रकारिता से जुड़े हैं लेकिन देश के गरीबों को खतरा नहीं है। सोलजेनित्सिन और नाज्दा मैंडलस्टैम की पुस्तकें पढ़ने के बाद भी और स्टालिन के अत्याचारों के बारे में जानने के बाद भी हमारी मंद बुद्धि में यह बात सत्य के रूप में उद्भासित नहीं हुई कि सबसे ज्यादा खतरा तो गरीबों को है। रोहिंटन मिस्त्री का उपन्यास असहाय और गरीब आदमी को इमरजेंसी ने कैसे सर्वहारा — सब कुछ हारा हुआ, सब कुछ गंवाया हुआ — बनाया, इसका एक मार्मिक आख्यान है।मोदी का प्रहार हम जैसों पर तो चार-पाँच तमाचे या उससे कुछ अधिक निर्वासन का होगा, लेकिन देश के दलित, आदिवासी, और गरीबी की रेखा के नीचे रहनेवाले लोगों को तो नेस्तनाबूद करने का होगा।

सिद्धार्थ वरदराजन ने मोदी की आर्थिक नीतियों पर लिखते हुए गरीबों पर होनेवाले प्रहार की चर्चा की है। वरदराजन लिखते हैं : मोदी की आर्थिक नीतियों में तीन बातें हैं : पहली बात, खनन और मैन्युफैक्चरिंग को तेजी से बढ़ाने के लिए उन सब परियोजनाओं को जो पर्यावरण प्रदूषण के चलते और अन्य नियमों के कारण लटकी हुई है, तुरतातुरत हरी झंडी दिखाना।इस मामले में काफी पहल की जा चुकी है जो दृश्यमान नहीं हैं क्योंकि उनके बारे में नगाड़े नहीं बजाए गए हैं।दृश्यमान न होने के कारण उनके बारे में बिजनेस प्रेस (आर्थिक-वित्तीय समाचार-पत्र) को छोड़ कर सब अखबारों में मोटे तौर पर कुछ भी नहीं छपा है। इकानामिक टाइम्स के एम राजशेखर ने इनके बारे में सार रूप से संक्षेप में लिखा है : 'अपने पहले सौ दिनों में ही सरकार ने कोयला खान विस्तार परियोजनाओं को जन सुनवाई (की बाध्यता) से मुक्त कर दिया है। वनों में 'संभावनाएं' ढूंढने (यानी वनसंपदा को टोहने) के लिए मंत्रालय के अधिकारियों को अब ग्राम परिषदों की अनुमति लेने की जरूरत नहीं है।मंत्रालय के अधिकारी 100 हेक्टेर से कम भूमि पर चलाई जानेवाली खनन परियोजनाओं का अब निरीक्षण भी नहीं करते।पर्यावरण को प्रदूषित करनेवाले दरमियानी आकार के उद्योग अब राष्ट्रीय उद्यानों और अभयारण्यों से 5 किलोमीटर की दूरी पर अपना उत्पादन कर सकते हैं ; पहले सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के अनुसार 10 किलोमीटर की दूरी तक प्रतिबंध था। कोलतार प्रसंस्करण (प्रोसेसिंग) जैसे उद्योगों को अब 'उदारमना' तथा नियम-कानूनों को ज्यादा तवज्जों न देनेवाली राज्य सरकारों से मंजूरी प्राप्त करने की इजाजत दे दी गई है। पुनर्गठित वन्य जीवन के राष्ट्रीय बोर्ड (नैशनल बोर्ड ऑफ वाइल्डलाइफ) की स्थायी समिति में अब कोई गैर सरकारी वन्य जीवन व पर्यावरण विशेषज्ञ नहीं है।एक महीने पहले (यानी अगस्त महीने में कभी) सरकार ने वनों को परिभाषित करनेवाले नियमों को, जिनसे कुछ वन उल्लंघनीय (वायोलेट) और कुछ अनुल्लंघनीय (इनवायोलेट) माने जाते थे, बदल दिया यानी उनमें ऐसी ढील दे दी है जिससे देश के बहुत बड़े वन-क्षेत्र में खनन करने की छूट मिल जाएगी।'

क्या ऊपर का उद्धरण हमें डराता नहीं? क्या यह हमें आतंकित नहीं करता? सिद्धार्थ वरदराजन इस उद्धरण के बाद लिखते हैं कि इन परियोजनाओं में से अधिकतर परियोजनाएं उन आदिवासी क्षेत्रों में हैं जहाँ माओवादी सक्रिय हैं।सरकार यह बता चुकी है कि छत्तीसगढ़ और झारखंड जैसे राज्यों में सैन्य बल और बढ़ाएगी। जाहिर है कि सरकार का माओवादी संगठनों को रचनात्मक कार्यक्रमों के माध्यम से निष्प्रभावी करने के बजाए दमनशक्ति से कुचलने का इरादा है। ऐसा इरादा माओवादियों की ताकत ही बढ़ाता है।

मोदी की अर्थनीति की दूसरी बात यह है कि अगले पाँच-दस वर्षों में प्रतिरक्षा और बीमा क्षेत्र में विदेशी पूंजी के निवेश से प्रगति की चकाचौंध पैदा की जाए, सड़के बनाई जाएं और उद्योगों की सहायता करनेवाला ढांचा खड़ा किया जाए। 'जन धन' जैसी योजनाओं से लोगों को यह महसूस करवाया जाए कि देश की वित्तीय व्यवस्था में उनकी भागीदारी है। कुछ अर्थशास्त्रियों की राय है कि इससे बैंक-व्यवस्था मजबूत होगी और राष्ट्रीय बचत एक लंबे समय तक बढ़ेगी। मोदी की अर्थनीति का तीसरा क्षेत्र सामाजिक है जिसमें 2022 तक सब लोगों को रहने को घर, 2019 तक सबके लिए सफाई की व्यवस्था की घोषणा की गई है जबकि जेटली के बजट में इन क्षेत्रों में सरकारी खर्च बढ़ाने की ज्यादा गुंजाइश नहीं दिखाई पड़ती।

शिक्षा के मामले में मोदी सरकार नए-नए आईआईटी खोलने की बात कर रही है जबकि मौजूदा आईआईटियों में ही योग्य अध्यापक नहीं है। 5 सितंबर के स्कूली बच्चों के संबोधन में शिक्षकों की महत्ता पर मोदी ने उचित महत्व दिया पर शिक्षा को बाजारू बनाए जाने पर मौन रखा तो उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि बातानुकूलित हॉल में उपस्थित बच्चों में अंगरेजी माध्यम वाले स्कूलों के बच्चे ही शायद बहुसंख्यक थे।

हमें यह कहने और मानने में आज सैंतीस बरस बाद भी इमरजेंसी में अपने डर पर शर्म आती है। दो बार पूछताछ से गुजरने के बाद हमें लगने लगा कि पुलिस सताएगी तो हम जो कुछ भी जानते हैं, उसे उगल देंगे और साथियों को फंसा देंगे।मुखबिर बनने के बाद जीवन का रहा-सहा अर्थ भी नहीं रहेगा।

नरेंद्र मोदी ने गद्दी पर बैठने के बाद इमरजेंसी का वह पुराना डर लौट आया है। इंदिरा गाँधी की पराजय के बाद इमरजेंसी के अनुभव के परिप्रेक्ष्य में कांग्रेस

के राज में जिन लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों को मार डाला गया था, उन्हें जनता पार्टी की सरकार ने सिर्फ सांविधानिक संशोधनों को छोड़कर पुनरूज्जीवित करने के बजाए दफनाने की प्रक्रिया शुरू कर दी। हमें याद आता है कि 1977 में सामयिक वार्ता के पहले ही या दूसरे या ज्यादा से ज्यादा तीसरे अंक में सच्चिदानंद सिन्हा ने राज्यों की कांग्रेसी सरकारों को बरखास्त किए जाने का विरोध करते हुए लिखा था कि यह संघीय (फेडरल) ढांचे पर कुठाराघात है; लोकतंत्र एक अत्यंत संवेदनशील और नाजुक तंत्र है जिसमें हर वक्त छोटी-छोटी प्रक्रियाओं पर निगरानी रखना जरूरी है ताकि तंत्र (लोक का) का संतुलन बना रहे। (यह याददाश्त के सहारे लिखा है जो अब अस्सी साल के उमर में लगातार विस्मृति के गर्भ में जा रही है) उस वक्त हममें से बहुतों ने सोचा था कि सच्चिदाजी कुछ अति कर रहे हैं, जिन राज्यों में कांग्रेस का सफाया हो गया है उनमें सरकार बरखास्त करना कैसे अनुचित है।लेकिन आज उनकी बात ज्यादा समझ में आ रही है। मोदी सरकार ने उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकारों का बरखास्त नहीं किया है तो उसके कारण एकदम दूसरे हैं लेकिन उसने उन राज्यपालों को तो बरखास्त किया ही है, जिनमें, कांग्रेसी राज्यपाल थे।

राज्यपाल के पद और राज्यसभा की सदस्यता के मामले में कांग्रेस ने लूट में हिस्सा देने की परंपरा डाली थी, उसे मोदी के सरकार ने तीन महीनों में और भी मजबूत किया है। इसके साथ-साथ न्यायपालिका को यह संदेश दिया है कि हमारा साथ दोगे तो तुम्हें लाभ-ही-लाभ मिलेगा। जनता पार्टी के राज और अब मोदी सरकार के राज में राज्यपालों की बरखास्तगी के कारनामे से राज्यपाल पद के औचित्य और उसके कार्यकलाप पर एक राष्ट्रीय बहस की शुरुआत होनी चाहिए थी, वह नहीं हुई क्योंकि हमारे लोकतंत्र में हर मर्यादा का उल्लंघन परंपरा का दर्जा पा गया है। हर उल्लंघन का एक ही जवाब है 'तुमने भी तो यही किया था।' सेवा निवृत्त प्रधान न्यायाधीश सदाशिवम की चार महीने की निवृत्ति के बाद राज्यपाल पद पर नियुक्ति की आलोचना पर भाजपा का जवाब था 'तुमने भी तो सेवा निवृत्त न्यायाधीश रंगनाथ मिश्र को राज्यसभा के सदस्य बनाया था।' तो क्या कांग्रेस सारा देश है? कांग्रेस के जिन पापों के कारण तुम गद्दी पर बैठे हो और खुद वैसे ही और उससे बढ़कर पाप करो तो किस मुंह से अच्छे दिन आने की बात करते हो?'

(3)

संगठित राजनीति के क्षेत्र में आज कंपनी क्षेत्र का प्रवेश ही नहीं हुआ है, (कारपोरेट क्षेत्र) उसकी सारी बारीक चालबाजियां भी साथ-साथ चली आई हैं। कंपनियां जिस तरह विज्ञापन करती हैं, इवेंट मैनेजमेंट करती हैं, नए-नए दिवसों की, जैसे, वैलेंटाइन दिवस, फादर्स डे, मदर्स डे, चोकलेट डे, वैसे ही दिवसों का आयोजन संगठित राजनीति के क्षेत्र में तेजी से बढ़ने वाला है। 5 सितंबर को मोदी का शिक्षक दिवस पर भाषण आगे के दिवस उत्सवों के तांडवों की शायद पहली ही पदचाप थी।

राजनीति के संगठित क्षेत्र का उद्देश्य कंपनी-क्षेत्र के तरह ही मुनाफा कमाना ही हो गया है। जिस तरह कंपनी के मैनेजिंग डायरेक्टर, अध्यक्ष, मेनेजर, सीईओ आदि अपने वेतन और सुविधाओं में बढ़ोतरी करते रहते हैं, उससे ज्यादा ही रफ्तार में हमारे राजनीतिक दलों के संसत्सदस्य अपने वेतन और सुविधाएँ बढ़ाते हैं। लोक सभा में आज प्रायः हर राजनीतिक दल में करोड़पतियों, अपराधियों और ठगों की संख्या इतनी ज्यादा है कि संसद भवन के भीतर एक पुलिस थाने की व्यवस्था करने पर गंभीरता से सोचना चाहिए। मार्शलों के रूप में बाउंसरों (शराबखानों में उत्पात मचाने वालों को नियन्त्रित करने के लिए रखे गये पहलवान) के बाद भी सोचने की कोई कह सकता है। पिछली लोक सभा में कई संसद सदस्यों ने बाउंसरों की भूमिका अपनाई थी। जहाँ हर राजनीतिक दल का उद्देश्य सिर्फ चुनाव लड़कर सत्ता में आना हो जाए तो लोकतांत्रिक मूल्यों का क्षरण होना अवश्यम्भावी है। जिस देश के प्रधानमंत्री के कपड़े, जूते, घड़ी और व्यक्तिगत इस्तेमाल के उपकरणों की कीमत लाखों में हो, उसमें सादगी के मूल्य का त्याज्य होना अनिवार्य है। 1997 में वार्ता के 20 वर्ष पूरे होने पर जो अंक निकला था उसमें आईआईटी, खड़गपुर के पूर्व अध्यापक और पश्चिम बंगाल योजना बोर्ड के एक समय सदस्य अजित नारायण बोस का आंकड़ों और तालिकाओं से भरा एक लंबा लेख (उस लेख से ही वार्ता का पूरा अंक बना था) छपा था। उस लेख में अकाट्य तथ्यों और आंकड़ों के माध्यम से डॉ. बोस ने बताया था कि चालीस प्रतिशत भारतीयों का अपने कपड़ों पर सालाना खर्च 4050 है। 17 वर्ष बाद पाँच गुना कर लें तो 20250 बैठेगा। प्रधानमंत्री और चालीस प्रतिशत भारतीयों की दूरी का यह एक माप हो सकता है।

नरेंद्र मोदी ने संसद भवन में प्रवेश करते ही उसकी धरती को छू कर प्रणाम किया।यह प्रणाम जब तक यह प्रमाण नहीं देता कि सरकारी दल बहानेबाजी से बाज आएगा, प्रश्नों का सही जवाब देगा और गुप-चुप, मिलीभगत और देश के आँखों में धूल झोंकने की कोशिश नहीं करेगा तब तक प्राणायाम (श्वास लेने की प्रक्रिया का अभ्यास) ही बना रहेगा।

हमें डर लगता है इमरजेंसी में जो हुआ, उसे परंपरा के रूप में पेश किया जाएगा। और इस देश में मोदी और भाजपा अपने से अधिक किसी को भी परंपराबाहक और पालक नहीं मानते। ❑

अनन्तमूर्ति का आशय

उडुपी राजगोपालाचार अनंतमूर्ति के निधन (22 अगस्त, 2014) पर जो भी समाचार और लेख छपे हैं, उन सब में इस बात का जिक्र किया गया है कि इस बार के आम चुनाव के दिनों में उन्होंने यह कहा था कि अगर नरेंद्र मोदी देश के प्रधान मंत्री हुए तो वे देश त्याग देंगे। यह उनके कथन का एक अंश था और जैसा हमारे मीडिया का चरित्र बन गया है, उसमें जरा सी भी गंभीर और संवेदनापूर्ण बात अव्वल उसकी पकड़ में आती ही नहीं और अगर भूले-भटके आ भी गई तो उसे वह कोई महत्व नहीं देता। अनंतमूर्ति ने नरेंद्र मोदी के प्रधानमंत्री होने पर देश छोड़ने की बात के साथ जो बात कही थी वह एक ऐसी मर्मस्पर्शी बात है, जिस पर हमें गौर करना चाहिए और इस अर्थ में 'आतंकित' भी होना चाहिए कि हम सजग हों और हो सकें।

अनंतमूर्ति ने कहा था 'मोदी के सत्ता में आने का मतलब हमारी सभ्यता के रुझान में विचलन हो सकता है या मुझे यह लगता है कि जब कोई धौंस जमाने वाला (बुली) आ जाए तो हम धीरे-धीरे अपने लोकतांत्रिक और नागरिक अधिकारों को खोते चले जा सकते हैं और इस बात की आशंका तब और भी ज्यादा हो जाती है जब हमारे सामने धौंस जमानेवाला हो और हम कायर (ता पूर्ण आचरण करें) हो जाएं।'

इस बात से तो शायद ही कोई असहमत हो कि अब केंद्र में जो दल सत्तारूढ़ हुआ है, वह हमारे स्वाधीनता या राष्ट्रीय आंदोलन की प्रायः सभी परंपराओं खासकर धर्म निरपेक्ष इहलौकिक परंपरा का प्रबल विरोधी रहा है। अनंतमूर्ति का डर इस परंपरा के 'वध' किए जाने के बारे में था और वह निश्चय ही एक जायज डर है। अनंतमूर्ति के दिमाग में इमरजेंसी के दिनों की याद भी शायद काम कर रही हो जिसमें एक संजय गाँधी ने अपनी धौंस के चलते देश पर क्या न कहर ढाया था य अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'संस्कार' पर बनी फिल्म की नायिका स्नेहलता रेड्डी की मृत्यु की भी शायद अनंतमूर्ति को याद आई हो, जिन्हें इंदिरा गाँधी की राक्षसी सरकार ने इमरजेंसी में लगभग मृत अवस्था में जेल से रिहा किया था।

एक लेखक के रूप में अनंतमूर्ति को एक ऐसे भारतीय लेखक के रूप में याद किया जाएगा जिसने जाति, धर्म, भाषा और भौगोलिक क्षेत्र की सीमाओं का अतिक्रमण कर एक बड़े पाठक वर्ग तक अपनी पहुँच बनाई। इसके पीछे मुख्य रूप से उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा के साथ उनकी समाजवादी प्रतिबद्धता और व्यवहार कुशलता का भी निश्चय ही थोड़ा-बहुत योगदान था। किसी समाजवादी लेखक ने उनके जितनी ख्याति प्राप्त नहीं की। देश के प्रायः सभी बड़े पुरस्कार और सम्मान प्राप्त करने के साथ वे देश की प्रायः सभी बड़ी अकादमिक और सांस्कृतिक संस्थाओं के सर्वोच्च पदों पर भी आसीन रहे। आज जब अंगरेजी के सर्वग्रासी प्रकोप के कारण एक भारतीय लेखक के लिए 'भाषा-लेखक' जैसे अशिष्ट विशेषण का प्रयोग किया जाता है तब अनंतमूर्ति ने एक भारतीय भाषा कन्नड़ के एक बड़े लेखक के रूप में विश्व साहित्य में अपनी पहचान बनाई। ('भाषा-लेखक' में 'भाषा' अंगरेजों द्वारा भारतीय भाषाओं के लिए चलाए गए अपमानजनक 'वर्नाकुलर' शब्द का अनुवाद है) अनंतमूर्ति ने एक जगह लिखा भी है 'एक (साहित्य-कला) कृति अपना माध्यम (खुद) चुनती है या मेरे खयाल में एक भारतीय लेखक के लिए भारतीय भाषा (ही) वह माध्यम है।'

कन्नड़ साहित्य में 'नव्य आंदोलन' के प्रवर्तकों में लंकेश और तेजस्वी के साथ अनंतमूर्ति का नाम लिया जाता है। इन तीन बड़े समसामयिक लेखकों ने एक दूसरे को निश्चय ही प्रभावित किया लेकिन इन तीनों का लेखन अपनी अलग-अलग विशिष्टता लिए हुए है।

अनंतमूर्ति ने गाँव की संस्कृत पाठशाला से अपनी शिक्षा शुरू कर बरमिंघम (इंग्लैंड) से अंगरेजी साहित्य में डॉक्टरेट प्राप्त की। भारतीय ब्राह्मण और लोक परंपराओं के साथ उन्होंने विदेशी साहित्य का भी गहन अध्ययन किया था। अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'संस्कार' में ब्राम्हणवादी वर्चस्व को उन्होंने जिस तरह पेश किया था उसको लेकर काफी विवाद हुआ, लेकिन उपन्यास की सृजनशीलता ने उन्हें कन्नड़ ही नहीं भारतीय साहित्य में एक अग्रणी लेखक के रूप में स्थापित कर दिया। उनके अन्य उपन्यासों में भारतीपुरा, दिव्य, और अवस्थे प्रसिद्ध हैं। 'अवस्थे' में एक चरित्र कर्नाटक के प्रसिद्ध समाजवादी नेता शांतवेरी गोपाल गौड़ा पर आधारित बताया जाता है। राजनीति में अनंतमूर्ति का साथ लोहियावादी समाजवादियों के साथ ही रहा। समाजवादी मुख्यमंत्री जे.एच. पटेल, उनके घनिष्ट मित्र थे। अनंतमूर्ति की कर्नाटक में उपस्थिति इतनी अधिक थी कि अधिकतर कन्नड़ भाषी उनके लेखन से परिचित हैं। हमारे हिंदी में तो हमारे हिंदी भाषी क्षेत्र के लोकसभा सदस्यों में शायद ही कोई निर्मल वर्मा के लेखन से परिचित हो। हमारा खयाल तो यह है कि वे नाम से भी परिचित नहीं होंगे।

अंत में अनंतमूर्ति के साथ हमारे समय के एक और बड़े समाजवादी लेखक वीरेन्द्र भट्टाचार्य की याद आती है। दोनों को ही भारतीय साहित्य का सबसे बड़ा सम्मान ज्ञानपीठ सम्मान प्राप्त हुआ। वीरेन्द्र भट्टाचार्य का प्रसिद्ध उपन्यास 'मृत्युंजय' हिंसा और अहिंसा के सवाल से जूझता है। वीरेन्द्र भट्टाचार्य ने एक जगह कहा था कि वे तमाम साहित्यिक पुरस्कारों के खिलाफ हैं पर उन्हें यह कहने का नैतिक आधिकार नहीं है क्योंकि लेखन से प्राप्त आय से जीवन चला न पाने के कारण उन्हें पुरस्कारों पर काफी हद तक निर्भर रहना पड़ा है।

फिलिस्तीनी–भूमि पर कब्जे का इतिहास 1946–2000

समाजवादी जनपरिषद के लिए चंचल मुखर्जी द्वारा मुखर्जी बुक डिपो, पाण्डेय हवेली, वाराणसी-221001 से प्रकाशित एवं दी महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित